दिग्दर्शन

— लेखक —

जैन धर्म दिवाकर आचार्य-सम्राट् परम श्रद्धेय पूज्य

श्री आत्मा राम जी महाराज

के सुशिष्य

श्री ज्ञान मुनि जी महाराज

वाणी की महत्ता—

वैसे तो संसार मे शस्त्रबल, शरीरबल, अर्थबल आदि अनेकों बल पाए जाते हैं, पर इन में वाणी-बल का सर्वोपरि स्थान है। तल-वार का बल मनुष्य के शरीर को तो झुका सकता है पर उसके हृदय को नहीं। मानव - हृदय को विनत करना वाणी-बल का काम है। विशाल साम्राज्य की सैनिक शक्ति जहाँ कुण्ठित हो जाती है, वहां वाणी का बल सर्वथा सफल रहता है। इतिहास इस तथ्य का गवाह है। प्रभव चोर को कौन नहीं जानता ? जैन जगत का बच्चा-बच्चा उस के

जीवन से परिचित है। प्रभव की अपने युग में धाक थी। लोगो को सुला देना तथा ताले खोल लेना, ये दो विद्याएँ उस को सम्प्राप्त थीं। इन्हीं के कारण वह जनता को जी भर कर लूटता था। मगध-सम्राट् श्रेणिक उसे पकड़ नहीं सके। प्रभव की शक्तियो के आगे सम्राट् की शक्तियाँ निस्तेज हो गई थीं। उसी प्रभव को वैराग्यमूर्ति, सन्तहृदय, श्रेष्ठिपुत्र श्री जम्बू कुमार ने बदल दिया था। वह नवविवाहित जम्बू की दहेजसम्पत्ति को चुराने आया था, किन्तु स्वयं चुराया गया। यति-शिरोमणि जम्बू की वैराग्यमय प्रभावशाली वाणी ने उसके जीवन पर ऐसा विलक्षण असर डाला कि उस ने सदा के लिए चोरी को छोड़ दिया, दानवता के भीषण अन्धकूप से निकल कर वह मानवता के उच्च शिखर पर आसीन हो गया, चोर से साधु बन गया।

जैन साहित्य के अलावा, बौद्ध साहित्य मे अंगुलिमाल का जिक्र आता है, यह निर्दयता की सजीव मूर्ति था, लोगो की अंगुलियो को काट कर उसने उनकी माला बना ली थी, उसे सदा पहने रहता था। इसीलिए वह अंगुलिमाल के नाम से प्रसिद्ध था। राजा प्रसेनजित् का भीषण सैन्यबल उसे गिरफ्तार नहीं कर सका था। परन्तु महात्मा बुद्ध की सौहार्दपूर्ण वाणी ने इस के जीवन की दिशा बदल दी थी, बुद्ध के उपदेशो से यह इतना प्रभावित हुआ कि आततायी वृत्तियों को छोड़ कर उन्हीं के चरणों मे भिक्षु बन गया, खूनी से मुनि हो गया। रा-

मायण के रचयिता वाल्मीकि का जीवन किसी से छुपा नहीं है। यह भी डाकू था किन्तु साधुओ का संसर्ग पाकर तथा उनके उपदेशामृत का पान करके सुधरा था। इस प्रकार के उदाहरणो से इतिहास भरा पड़ा है। इन उदाहरणो में वाणी-बल की महत्ता तथा सर्वोत्कृष्टता भली भाँति प्रमाणित हो जाती है।

शास्त्रीय ज्ञान पठित व्यक्ति तक सीमित रहता है, उससे पठित व्यक्ति या उसके विशेष सम्पर्क मे आने वाले लोग ही प्रतिलाभित हो सकते हैं, फायदा उठा सकते हैं, किन्तु वाणी की विशिष्टता विलक्षण है। इस से एक साथ सैकड़ों, हजारो, लाखो यहां तक कि करोड़ो व्यक्तियों को लाभ पहुँचाया जा सकता है। रेडियो इस सत्य का पूर्णतया परिपोषक है। रेडियो द्वारा करोड़ो लोग वाणी के चमत्कार सुनते हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि पञ्चविध ज्ञानो मे श्रुतज्ञान की सर्वाधिक लोकोपकारिता वाणी-बल पर ही निर्भर है। वाणी का बल महान् है। इस की व्यापक महिमा को शब्दो की सीमित रेखाओ मे बांधा नहीं जा सकता है।

वक्ता का महत्त्व—

वाणी की विशिष्टता सर्वविदित है। इस की उपयोगिता को किसी भी तरह झुठलाया नहीं जा सकता किन्तु वाणी की इस महत्ता को व्यक्त करना वक्ता का काम होता है। वक्ता के बिना वाणी का प्रसार सर्वथा असंभव है। वक्ता ही वाणी की महत्ता को जीवन

अर्पित करता है, वक्ता की योग्यता से ही वाणी निखरती है, आदर और सम्मान का पात्र बनती है। सदाचार की सुगंध से महकता हुआ वक्ता जब बोलने लगता है, वाणी की गंगा प्रवाहित करता है तो ऐसा मालूम होता है कि मानों अमृत का झरना बह रहा है। सब ओर सात्विकता और शांति का साम्राज्य स्थापित हो जाता है, श्रोताओं के मनोमन्दिर में अहिंसा, सत्य का स्रोत फूट पड़ता है, दैवी भावनाओं का स्वर झंकृत हो उठता है। वक्ता की महत्ता को अभिव्यक्त करते हुए संस्कृत के एक आचार्य कहते हैं—

"सहस्रेषु च पण्डितः, वक्ता शतसहस्रेषु"

अर्थात्— हजारो मे एक पण्डित होता है और लाखों मे कहीं एक वक्ता बनता है।

संस्कृत आचार्य के कथनानुसार लाखों व्यक्तियो में वक्ता मुश्किल से मिलता है, किन्तु योग्य वक्ता का मिलना तो और भी कठिन होता है। योग्य और आचरणशील वक्ता सौभाग्य से ही प्राप्त हुआ करता है। ऐसे वक्ता का मिलना कोई साधारण बात नहीं है। ऐसा वक्ता ही संसार को मोह-निद्रा से जगा सकता है। जनगण के मनो-मन्दिर में बिखरे पड़े, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारो के कूड़े-करकट का परिमार्जन कर सकता है। कथनी के साथ-साथ करणी को जीवनागी बनाने वाला वक्ता ही जन-मन में मानवता का संचार कर सकता है, अहिंसा, संयम और तप के महापथ का पथिक बना कर

इन्सान को भगवान् बनाने मे सफल हो सकता है।

श्रद्धेय मन्त्री श्री प्रेम चन्द जी महाराज—

श्रद्धेय पंजाब केसरी जैनभूषण मंत्री श्री प्रेमचंद जी महाराज इस युग के महान ख्यातिप्राप्त एक विशिष्ट वक्ता है। आपकी वक्तृत्व शक्ति विलक्षण है, उस मे ओज है, नव चेतना, नव स्फूर्ति और नव उत्साह भरा रहता है। आप की वाणी से सुधा की वर्षा होती है। आप जब बोलते हैं तो शेर की भाँति गरजते हैं। आप के इसी सिंह-गर्जना के कारण आप भारत मे पंजाबकेसरी के उपनाम से विख्यात हैं।

आप श्री की वाणी मे सैद्धांतिक तथ्य निखर उठते हैं। सैद्धांतिक तथ्यो की व्याख्या मे अकाट्य और अपूर्व युक्तियो का ऐसा स्रोत फूट पड़ता है कि सैद्धांतिक तथ्य मानो साकार होकर श्रोता के सन्मुख आ खड़े होते हैं। आप अपनी विलक्षण भाषण-पद्धति द्वारा अपने श्रोताओ को मंत्र मुग्ध कर लेते हैं। एक बार जो आपका प्रवचन सुन लेता है वह सदा के लिए आप का श्रद्धालु बन जाता है। आप के प्रवचनो मे वह जादू भरा रहता है कि क्या बूढा, क्या युवक, क्या बालक, क्या नारी, क्या पुरुष सभी उस से प्रभावित हो उठते हैं। आप श्री जहां भी चले जाते हैं, आप के प्रवचनो के प्रभाव से वहां का वातावरण सजग हो उठता है, आध्यात्मिकता की एक नई चहल-पहल पैदा हो जाती है। आप श्री अनेको बार श्रद्धेय गुरुदेव जैनधर्मदिवाकर, आचार्य-

सम्राट् पूज्य श्री आतमा राम जी महाराज के चरणों में दर्शनार्थ लुधियाना पधारे हैं । उस समय आप श्री के प्रवचनों का अद्भुत प्रभाव और जन-गण-मन मे एक नव्य आध्यात्मिक चहल-पहल मैंने तो स्वयं अपनी आंखो से देखी है।

प्रेम सुधा (आठवां भाग)–

प्रस्तुत 'प्रेमसुधा' नाम की पुस्तक श्रद्धेय पंजाबकेसरी, जैनभूषण, मंत्री श्रीप्रेमचंद जी महाराज के प्रभावशाली प्रवचनो का एक मौलिक संग्रह है। श्रद्धेय मंत्री श्री का सन् १९५६ का चतुर्मास ब्यावर (राजस्थान) में हुआ था । उस चतुर्मास में श्रद्धेय मंत्री श्री जी ने जो प्रवचन दिए थे, उनको श्री वर्धमान स्थानकवासी श्रावक संघ ब्यावर ने लिपिबद्ध करवा लिया था और उन्हें "प्रेम सुधा" का रूप देने का बुद्धिशुद्ध प्रयास किया था । ब्यावर श्री संघ ने ऐसा करके मंत्री श्री जी महाराज की व्याख्यान-सम्पत्ति को स्थायी बना दिया है । इस से अनेको लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं— १) मंत्री श्री ने अपना खून-पसीना बहा कर जनता की जो सेवा की है,जनता को जो उपदेशामृत पिला दिया है,शास्त्रीय रहस्य समझाएं हैं,वे उन्हीं के शब्दों में सदा ज्यों-त्यो बने रहेगे।(२)मत्री श्री के प्रवचन व्याख्यान सभा में उपस्थित जनता तक नहीं रहेंगे, बल्कि उस से अन्य अनुपस्थित लोग भी लाभ उठा सकेंगे। (३) दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाने के लिए अपने प्रवचनों में मंत्री श्री ने जिन युक्तियो का प्रयोग किया है, वे हिन्दी मे आ जाने से हिंदी-

साहित्य का एक भाग बन जाएगी । ऐसा करने से हिन्दी साहित्य का विकास होगा । (४) व्याख्यान के क्षेत्र मे आगे आने वाला साधु तथा गृहस्थवर्ग व्याख्यान - संग्रह से मार्ग - दर्शन प्राप्त कर सकेगा । इस प्रकार अन्य भी अनेको लाभ उठाए जा सकते हैं— 'प्रेमसुधा' नामक इस व्याख्यान संग्रह से ।

व्याख्यानों का संक्षिप्त परिचय—

'प्रेम-सुधा' अनेको धाराओ मे प्रवाहित हुई है । प्रस्तुत पुस्तक 'प्रेमसुधा' की आठवीं धारा है। आठवीं धारा को इस पुस्तक मे आठवें भाग से संसूचित किया गया है। इसमे मत्रीश्री के ग्यारह प्रवचन हैं। इनका नामनिर्देशपूर्वक संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. विस्ताररुचि—

विस्तार रुचि सम्यक्त्व का एक अवान्तर भेद है, विस्तार के साथ आगमों का अध्ययन करने से जो आत्मश्रद्धान तथा तत्त्वो की यथार्थ प्रतीति उत्पन्न होती है, उसे विस्तार रुचि कहते हैं। इसपर सभी दृष्टियो से चिन्तन इस प्रवचन मे किया गया है ।

२. क्रिया मीमांसा—

क्रिया का अर्थ होता है— करना । काम करना, व्यापार करना, या प्रवृत्ति करना । इस प्रकार क्रिया का सम्बन्ध सभी के साथ जुड़ जाता है किन्तु स्थूल रूप से क्रिया के— सावद्य और निरवद्य क्रिया दो रूप होते हैं । पापमय क्रिया सावद्य-क्रिया है, और पापरहित क्रिया निर-

वद्य क्रिया कही गई है। इस व्याख्यान में क्रियाओं के सम्बन्ध में बहुत सुन्दर विवेचन किया गया है। और यह भी व्यक्त किया गया है कि क्रियाएं गुणस्थानो में कहां तक पाई जाती हैं?

३. क्रियारुचि—

उत्तराध्ययन सूत्र में सम्यक्त्व के १० भेदों का वर्णन मिलता है। क्रिया-रुचि उन मे से एक है। जिन-जिन क्रियाओं के करने से, सम्यक्त्व की पुष्टि होती है, सम्यक्त्व फलता और फूलता है, उस का सम्वर्धन होता है उसे क्रिया-रुचि कहते हैं। क्रिया-रुचि सम्यक्त्व का विवरण इस प्रवचन में दिया गया है।

४. सम्यक्त्व के अन्य भेद—

प्रस्तुत पुस्तक का यह चतुर्थ प्रवचन है। इन मे सम्यक्त्व के अवांतर भेद धर्मरुचि का निरूपण किया गया है। जिनोपदिष्ट धर्म के विषय मे रुचि का होना, उत्साह का पाया जाना धर्मरुचि सम्यक्त्व है।

५. सुदृष्टिसेवा—

दृष्टि शब्द विश्वास का वाचक है। विश्वास दो तरह का होता है– प्रशस्त और अप्रशस्त। प्रशस्त या यथार्थ विश्वास वाले को सुदृष्टि और अप्रशस्त या अयथार्थ विश्वास वाले को कुदृष्टि कहते हैं। अथवा सुदृष्टि सम्यक्त्वी और कुदृष्टि मिथ्यात्वी का नाम है। सुदृष्टि की सेवा सुदृष्टि सेवा कही जाती है। इस प्रवचन में सुदृष्टि की सेवा की महत्ता को लेकर विस्तार के साथ विवेचन किया गया है।

६. कुदृष्टिवर्जना—

कुदृष्टि शब्द प्रस्तुत मे मिथ्यात्वी का परिचायक है। मिथ्यात्वी के संग का परित्याग कुदृष्टिवर्जना है। इस व्याख्यान मे कुदृष्टियो के संसर्ग को छोड़ देने पर बल दिया गया है। और उसके दोषो, उस से उत्पन्न हानियो पर प्रकाश डाला गया है।

७. निश्शकित आचार—

आचार शब्द प्रस्तुत मे उस कृत्य का संसूचक है, जिस से सम्यक्त्व उज्ज्वल बनता है, उसे पोषण मिलता है, उसकी वृद्धि होती है। आचार आठ माने जाते हैं। निश्शकित उन में सर्वप्रथम है। त्रिकालदर्शी वीतरागदेवो ने विश्वकल्याण के लिए अहिंसा, संयम और तप का जो सत्पथ दिखाया है, तथा उन्होने जीव, अजीव आदि नवविध तत्त्वो का जो प्रतिपादन किया है, उन पर पूर्ण विश्वास रखना, उनके सम्बन्ध मे किसी भी प्रकार की आशका न करना निश्शकित आचार है। इस व्याख्यान ने इसी के सम्बंध में विचार प्रस्तुत किए गए है।

८. सम्यग्दर्शन के अन्य आचार—

सम्यग्दर्शन के अष्टविध आचारों मे से (१) निःकांक्षित, (२) निर्विचिकित्सा, (३) अमूढ़दृष्टित्व, (४) गुणग्राम करना, (५) स्थिरीकरण, ये पांच आचार हैं। इस प्रवचन मे इन पांचो के सम्बन्ध मे संक्षेप मे प्रकाश डाला गया है। वीतराग देव की वाणी पर पूर्ण आस्था रखना, मिथ्यात्व से सदा दूर रहना, उसे ग्रहण करने की हृदय

में कभी इच्छा पैदा न करना निःकांक्षित आचार होता है। धार्मिक क्रियाओं के फल के सम्बंध में शंकाशील न बनना निर्विचिकित्सा आचार कहलाता है। मूढ़दृष्टि न बन कर शुद्ध दृष्टि को धारण करना अमूढ़दृष्टित्व आचार माना जाता है। धर्मनिष्ठ पुरुषो का गुणानुवाद करना गुणग्राम करना आचार है। जो धर्म से डिग रहे हैं, उन्हे धर्म में स्थिर करना स्थिरीकरण है।

९. स्थिरीकरण—

स्थिरीकरण सम्यक्त्व का छठा आचार है। इस के सम्बन्ध मे थोड़ा सा वर्णन आठवें व्याख्यान मे किया गया है विशेष प्रकाश इस व्याख्यान मे डाला गया है।

१०. वात्सल्य—

वात्सल्य सम्यक्त्व का सातवां आचार है। धर्मात्मा पुरुषों के प्रति प्रेमभाव बनाए रखना वात्सल्य होता है। दसवें व्याख्यान मे इस के सम्बंध मे विस्तार के साथ चिन्तन किया गया है।

११. प्रभावना—

सम्यक्त्व का पोषक आठवां आचार प्रभावना है। जिस विधि से जिन शासन की प्रभावना हो, महिमा बढ़े, उस का उत्कर्ष हो वह सब कृत्य प्रभावना आचार मे समाविष्ट हो जाते हैं। 'प्रेम-सुधा' के ग्यारहवें व्याख्यान मे इसी आचार पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है।

उपसंहार—

उक्त ११ व्याख्यानों में "प्रेम सुधा" का आठवां भाग समाप्त हो जाता है। सभी व्याख्यानो के नाम ऊपर की पंक्तियो में लिख दिए गए हैं और उन का संक्षिप्त परिचय भी वहां करवा दिया गया है।

मन्त्री श्री प्रेमचन्द जी महाराज के प्रवचनो के सम्बन्ध में क्या कहा जाए ? वे अपनी मिसाल आप ही हैं। संक्षेप में अपनी बात कहदूं, मंत्री श्री जी महाराज युगानुकूल समस्याओ के समाधान में बहुत अच्छी सामग्री अपने व्याख्यानो में दे देते हैं। इन की व्याख्यान-शैली सहज, सरल और सुबोध होती है। बहुत गहराई में उतर जाने पर भी श्रोतागण के हृदयो को युगानुकूल स्पर्श करते हुए चलते हैं। इन के व्याख्यानो का मूल उद्देश्य जन-मानस मे नैतिक भावनाओ का प्रसार करना होता है और देव अरिहन्त, गुरु निर्ग्रन्थ, धर्म अहिंसा संयम और तप, इस श्रद्धान को सुदृढ़ करना होता है। सम्यक्त्व का पोषण हो, और मिथ्यात्व का परिहार हो, यही मूलाधार होता है, मन्त्री श्री जी महाराज के व्याख्यानो का। मैं आशा करता हूँ कि जैन, अजैन, युवक, वृद्ध सभी इस प्रेम-सुधा का पान करने का यत्न करेंगे और इस के पान द्वारा अपने भविष्य को उज्ज्वल, अत्युज्ज्वल और समुज्ज्वल बनाने का सत्प्रयास करेंगे।

जैन स्थानक, लुधियाना
आश्विन शुक्ला १०
विक्रम सम्वत् २०१६

—ज्ञान मुनि

कहां क्या है?

: १ :

विस्तार रुचि - सम्यक्त्व

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः, सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

उपस्थित सज्जनो !

व्याख्यान का मुख्य विषय सम्यक्त्व है। अभिगमरुचि सम्यक्त्व के विषय मे विस्तार के साथ विवेचन किया जा चुका है। आज विस्तार रुचि-सम्यक्त्व के सम्बध मे कथन करना है। विस्तार पूर्वक आगम का अध्ययन करने से जो आत्मश्रद्धा और तत्त्व की यथार्थ प्रतीति उत्पन्न होती है उसे विस्ताररुचि सम्यक्त्व कहते है। उसके विषय मे शास्त्रकार कहते है :—

दव्वाण सव्वभावा, सव्वपमाणेहिंजस्स उवलद्धा।
सव्वाहिं नयविहीहिं, वित्थाररुइत्ति नायव्वो॥

— उत्तरा० अ. २८, गा. २४

इस गाथा मे विस्ताररुचि सम्यक्त्व के भाव का दिग्दर्शन कराया गया है। जिसने समस्त द्रव्यो के भावो-पर्यायो एवं गुणो को सव नयो और प्रमाणो के आधार पर समझ लिया है, समझ कर उन पर श्रद्धा कर ली है, उसी श्रुतज्ञ पुरुष को विस्तार रुचि सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

यद्यपि यह विश्व अत्यन्त विराट प्रतीत होता है और इसमे अगणित पदार्थों की प्रतीति होती है, तथापि उन सव पदार्थों का वर्गीकरण करके ज्ञानी महापुरुषो ने छह द्रव्यो की प्ररूपणा की है। इन छह द्रव्यों में सम्पूर्ण विश्व का समावेश हो जाता है। उन के अतिरिक्त सातवाँ द्रव्य नही है।

इन द्रव्यो को यथार्थ रूप से जानने के दो ही साधन है—प्रमाण और नय। प्रमाण और नय के द्वारा जब वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जान लिया जाता है, तव कुछ और जानना शेष नही रह जाता। छह द्रव्यो के सिवाय जानने योग्य कोई वस्तु नही रहती और न उन्हे जानने के लिए प्रमाण और नय से अतिरिक्त कोई साधन ही रह जाता है।

वस्तुतत्त्व को यथार्थ रूप से जानने की कसौटी प्रमाण और नय है। जव तक इन दोनों के द्वारा हम पदार्थ को न जान लें, तव तक हमारा ज्ञान अधूरा ही रहता है।

संसार में जितने भी द्रव्य हैं, वे अनन्त-अनन्त भावों को लिए हुए है। उनका सही - सही संतुलन करने के लिए ज्ञानियो ने एक मापदंड निश्चित कर दिया है, जिस से तोल कर किसी भी पदार्थ के भावो को जाना जा सकता है।

आप दुकानदारी करते है, परन्तु सब वस्तुओ को देख कर ही अंदाजा नही कर सकते कि यह बराबर ही है - इतनी ही है। कदाचित आप अंदाजा लगा भी ले तो ग्राहक को शंका बनी रहती है। उसे विश्वास नही होता कि आपनें जो चीज जितनी कह कर दी है, वह उतनी ही हे अथवा कम - ज्यादा है? इस उलझन से बचने के लिए एक तराजू- एक मापदंड निश्चित कर लिया गया है। उसमे दोनो तरफ दो बराबरी के पलड़े होते हैं और उस से ग्राहक को आवश्यकतानुसार वस्तु तोल कर दे दी जाती है। ग्राहक प्रत्यक्ष से दोनो पलड़े बराबर देख कर समझ लेता है और विश्वास कर लेता है कि वस्तु बराबर है— कम नहीं है।

तो जैसे ससारिक कार्यो के लिए मापदड होता है, उसी प्रकार शास्त्रकारो ने द्रव्यो का संतुलन करने के लिए—ठीक तरह से नाप-तोल करने अर्थात् पदार्थों का स्वरूप निश्चित करने के लिए भी एक तराजू प्रस्तुत कर दी है। उस तराजू के भी दो पलड़े है — प्रमाण और नय।

एक कहता है—यह ज्यादा है दूसरा कहता है- नही, कम है। तीसरा कहता है—बराबर है। इस प्रकार सब विवाद में पड़ जाते हें। तब मध्यस्थभावी ज्ञानी कहते है - विवाद करने की आवश्यकता

नही है। तुम्हारे पास तराजू मौजूद है। उसमे पदार्थ को रख कर तोल लो। कम - ज्यादा कहने का विवाद स्वत. समाप्त हो जायगा झगड़ा वही होता है जहाँ तोलने का साधन नहीं होता।

मत-मतान्तरो के झगडे भी इसी प्रकार के होते हैं। साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति अपने मत को सच्चा और दूसरे के मत को मिथ्या मानता और कहता है। यह झगड़े आज से नहीं, पुरातन काल मे चले आ रहे हैं। कभी - कभी तो यह झगड़े इतना उग्र रूप धारण कर लेते हैं कि घोर अशान्ति और खूनखराबी तक होती है। इतिहास के पृष्ठ के पृष्ठ इस तथ्य के साक्षी है। क्या भारत मे और क्या पश्चिमी देशो मे, सर्वत्र यही हाल रहा है।

इन झगड़ों को मिटाने या न होने देने का यही तरीका था कि उनके पास यह मापदड होता और वे इसका सही रूप से प्रयोग करते। ऐसा करते तो हर्गिज झगडे न होते। इस देश के विभाजन के समय लाखो मनुष्य मारे गये, मासूम बच्चे भालो की नोको पर लटकाये गये, रक्त की धाराएँ बहीं, हजारो सतियो का सतीत्व नष्ट हुआ, बहुसंख्यक सुन्दर नवयुवतियाँ बलात्कार पूर्वक विधर्मियो के हाथो मे पड़ कर दुष्कर्म करने के लिए बाधित की गई और कइयो ने धर्म रक्षा के लिए प्राण त्याग दिये ! यह दु.खप्रद और लज्जाजनक स्थिति क्यो उत्पन्न हुई ? इसी कारण कि लोग ईमानदारी के साथ सत्य को समझने और उसका निर्णय करने को तैयार नहीं। उनके पास सत्य को तोलने का काटा नहीं है।

इस काटे का प्रयोग न करने के कारण ही देश के दो टुकड़े

हो गये। फिर भी शान्ति कहाँ है ? इन टुकडों मे भी झगडे चल रहे है। पाकिस्तान मे पठान अपने स्वतंत्र अस्तित्व के लिए लड रहे है तो इधर पंजाब मे सिक्खो ने नवीन समस्या खड़ी कर दी है। ये खालिस्तान चाहते हैं। इस प्रकार सभी कौमें और सभी धर्मो के अनुयायी पृथक् - पृथक् प्रदेश की माँग करेंगे और अलग-अलग देश बनाने की सोचेंगे तो इस देश का भविष्य क्या होगा ? जब सारा शरीर टुकडे-टुकडे हो कर बिखर जायगा तो फिर किस काम का रह जायगा ? हाथ अलग हो जाऐ, पैर अलग हो जाऐ, छाती और पेट अलग हो जाये और मस्तक अलग हो जाये तो वह शरीर नष्ट हो जाएगा और किसी काम का नहीं रहेगा। वे अंग भी कोई काम नही कर सकेंगे। शरीर के साथ सुचारू रूप से सम्बन्ध होने पर ही सब अग अपना-अपना काम कर सकते है।

आशय यह है कि जब तक शरीर के अंगोपांग का शरीर के साथ सम्बन्ध है, तब तक शरीर भी और अगोपांग भी ठीक तरह से अपना-अपना काम कर सकते है। हाथ- पैर कह दें कि हमारा शरीर के साथ कोई सम्बंध नही है, हमें पृथक कर दो, तो शरीर से पृथक हुए हाथ-पैर भी किसी काम के नही और हाथो-पैरो से पृथक शरीर भी बेकार है। अतएव अपने-अपने स्थान पर सभी अंगो का होना लाजिमी है और सब का सम्मिलन ही कार्यकारी है। इसी में सब की प्रतिष्ठा है। अलग-अलग होने मे किसी की प्रतिष्ठा नही है - उनमे जो भी कर्तृत्व शक्ति है, वह सम्मिलित अवस्था मे ही है।

पृथक् होने पर वह नही रह सकती।

वह मस्तिष्क, वह आला दिमाग, जो कठिन से कठिन समस्या को भी सहज ही सुलझा देता है, शरीर से जुदा हो जाने पर मिट्टी के पिण्ड के समान हो जाता है, उसमे लेशमात्र भी विचार करने की शक्ति नही रहती। उस जुदा हुए मस्तिष्क पर कुत्ते पेशाव करेंगे और लोग उसे ठोकर मारेगे। यह दुर्दशा कब होगी! जब कि वह शरीर से जुदा हो जाएगा। और वह हृदय, जिसमे अनुभव करने की शक्ति है, जिसके आधार पर शरीर का अस्तित्व टिका है और जो सुख-दु ख की सवेदना का जनक माना जाता है, तभी तक उसकी शक्ति काम करती है जब तक वह शरीर से पृथक् नही हुआ है। शरीर से पृथक् होते ही उस की समस्त शक्तियाँ नष्ट हो जाती है।

यहा हाल सब अगो का है। कोई भी अग क्यो न हो, जब वह शरीर से पृथक हो जाता है तो बेकार हो जाता है। ठीक इसी प्रकार प्रत्येक धर्म के अनुयायी यदि अपने- अपने लिए पृथक् - पृथक् राज्य मागने लगे और फिर अलग-अलग जातिया भी यही दावा करने लगे तो शरीर और उसके अगो के समान देश की और उन पृथक् हुए अंशो की व्यवस्था विगड जाएगी।

मगर यह झगडे, क्लेश और विभाग तव हुए जब कि पहले दिलो के टुकड़े हो गए। दिलो के टुकडे न हुए होते तो यह वीभत्स दृश्य भी दृष्टिगोचर न होते। मगर मजहब की बीमारी बड़ी बेढ़गी होती है। इस बीमारी से मनुष्य अधा हो जाता है, पागल हो जाता है और उसे नियन्त्रण मे रखना कठिन हो जाता है। धूर्त राजनीतिज्ञ

अपना उल्लू सीधा करने के लिए लोगो को मजहब के नाम पर भड़का देते है और अपना मतलब साध लेते है ।

आज भी सम्प्रदायो के झगड़े चलते रहते है । कोई कहता है, यह सम्प्रदाय अच्छा और यह बुरा है । दूसरा उस से असहमत हो कर अपनी मान्यता पर वल देता है । वे ईमानदारी और मध्यस्थ भाव से अपनी मान्यता को तोलना नही चाहते । उन्हे अपना मत अधिक प्रिय है , सत्य उतना प्रिय नही है । जिसे सत्य सब से अधिक प्यारा लगेगा वह अपने प्रत्येक विचार को कसौटी पर कसेगा , तराजू पर तोलेगा ।

हमारे तीर्थंकर भगवंतो ने बड़ी ही समन्वय बुद्धि से काम लिया है । वे जानते थे कि शरीर का बड़े से बड़ा और छोटे से छोटा अवयव भी शरीर के लिए अनिवार्य रूप से उपयोगी है । प्रत्येक अग का शरीर मे उपयोगी स्थान है और वह अपना-अपना काम करता है । ऐसी स्थिति मे किसी अंग को बडा और किसी को छोटा समझ-ना और छोटे को काट कर फैंक देना बुद्धिमत्ता नही है । सब का यथोचित समादर होना चाहिए ।

महापुरुषो ने झगड़े मिटाने के लिए एक मापदड बना दिया है— तराजू कायम कर दी है । अगर सीधी तरह से समझौता हो जाता है तब तो ठीक ही है , और यदि समझौता नही होता तो जिस वस्तु को ले कर मतभेद है , जिसके विषय मे सशय या विपर्यास है , उसे तराजू मे डाल कर तोल लो । फिर किसी को कुछ भी कहने की

गुंजाइश नही रहेगी।

वह तराजू है— तत्त्व की परीक्षा। प्रमाण और नय उस के दो पलड़े है। जब कभी किसी भी वस्तु के विषय मे विवाद उपस्थित हो तो उसे प्रमाण और नय की तराजू पर तोल लेना चाहिए। दोनो पलड़े वस्तु को तोलने के लिए हैं।

प्रमाण भी वस्तु को तोलने के लिए है और नय भी। दोनो वस्तु का बोध कराते हैं। दोनो ज्ञान-स्वरूप हैं। दोनो ही वस्तु का निर्णय करने वाले हैं।

प्रश्न हो सकता है कि यदि प्रमाण भी बोधरूप है और नय भी बोध रूप है, तो फिर दोनो को पृथक - पृथक मानने की क्या आवश्यकता है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि भोजन का काम शरीर को शक्ति प्रदान करना है, शरीर की रक्षा करना और उसे टिकाये रखना है। और पानी भी यही काम करता है। वह भी शरीर को बल देता है और जीवन का पोषण करता है - रक्षा करता है। इस प्रकार दोनो का गुण एक होने पर भी दोनो का पृथक - पृथक स्थान है। भोजन अपना काम करता है और पानी अपना काम करता है। पक्षी की दो पाखें होती हैं। दोनो का काम है—पक्षी को उडने मे सहायता देना—उसे गति प्रदान करना। किन्तु यदि दोनो मे से एक ही पख रहे और दूसरी न रहे तो पक्षी की उडने की शक्ति नष्ट हो जायगी और वह उड़ नहीं सकेगा। दोनो पांखें दोनो तरफ से वायु को

दबा कर उड़ाने में समर्थ होती हैं। जब एक पांख कट जाती है और उड़ने मे असमर्थ हो जाता है तो दूसरे पक्षी उसे घायल कर देते है बिल्ली कुत्ता आदि हिंसक जन्तु अपना शिकार बना लेते हैं। इसी प्रकार अगर आप पदार्थों का निर्णय करने की दुनियाँ में उड़ान भरना चाहते हैं और उस में सफल होना चाहते हैं तो आप को भी प्रमाण और नय रूप दोनो पांखों की आवश्यकता होगी। दोनो मे से एक के भी अभाव में आप सफल उड़ान नहीं भर सकते। अर्थात् वस्तु- स्वरूप का यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता। जैनदर्शन की यह एक बड़ी विशेषता है कि उसने तत्त्व निर्णय की यह द्विरूप अभ्रान्त तराजू जगत् के समक्ष उपस्थित की है। दूसरे दर्शन प्रमाण के आधार पर ही उड़ने की चेष्टा करते हैं, परन्तु उनकी उड़ान इसी कारण सफल नहीं होती कि उसके पास दूसरे पंख के समान 'नय' नहीं है। नय के तत्त्व को न समझने के कारण वे एकान्तवाद के शिकार हो गये हैं, जब कि प्रमाण और नय दोनों का अवलम्बन लेने वाला जैनदर्शन वस्तुतत्त्व के निर्णय मे पूर्ण रूप से सफल हुआ है।

जब पलड़े दो हैं तो दोनों में कुछ अन्तर भी होना चाहिए। अन्तर के बिना द्विरूपता की संगति नहीं हो सकती, तो प्रमाण और नय में क्या अन्तर है ?

प्रमाण वस्तु के पूर्ण रूप को जानता है। वस्तु अनन्तानन्त

गुणो और पर्यायो से युक्त है। उन गुणो और पर्यायो का समूह ही द्रव्य कहलाता है। उम समूह रूप द्रव्य को विषय करने वाला ज्ञान प्रमाण है। और द्रव्य के किमी एक धर्म या पर्याय को जो जानता है, वह आंशिक ज्ञान नय कहलाता है।

दोनो का अन्तर ममझने के लिए एक स्थूल उदाहरण लीजिए। मान लीजिए कि किसी जगह अनाज की बोरियाँ पड़ी है और उन मे २४ ही प्रकार का धान्य मिला हुआ है। प्रमाण कहता है– यह रेत नही, चूना नहीं, मिट्टी नहीं, बल्कि अनाज है। मगर इतना कह देने से ही काम नही चलता। लोगों को सामान्यतया अनाज जान लेने मे मतुष्टि नहीं होती। किसी को गेहूँ चाहिए, किसी को चना चाहिए, किसी को जवार और किसी को बाजरी की जरूरत है। गोदाम मे सब तरह के घान्य विद्यमान हैं, उनमे से जिसकी जिसे लेने की अभिरुचि होती है, वह उसी को खरीद लेता है। तो प्रमाण धान्य मामान्य का निर्णय कर देता है, किन्तु नय कहता है कि इसमे अनेक प्रकार के धान्य हैं। वह उसमे से किसी एक धान्य को लेता और उसका वर्णन करता है।

अभिप्राय यह है कि अखण्ड वस्तु को विषय करने वाला ज्ञान सम्यग्ज्ञान प्रमाण कहलाता है और उस वस्तु के किसी एक धर्म, गुण या पर्याय को अथवा अंश को जानने वाला ज्ञान नय कहलाता

है। यही प्रमाण और नय मे अन्तर है। नय, प्रमाण का ही एक अंश है।

दूसरे शब्दो मे यो कहा जा सकता है कि प्रमाण थोकबद व्यापारी है और नय परचूनिया दुकानदार है। समाज मे दोनो की अपनी-अपनी उपयोगिता है। व्यापारियो को थोक- व्यापारियो की आवश्यकता है तो सर्वसाधारण जनता को परचून माल बेचने वालो की भी आवश्यकता है। सभी लोग थोकबद बोरिया ही बेचे और फुटकल कोई न बेचे तो साधारण लोगों का काम कैसे चलेगा ? उन की आवश्यकता की पूर्त्ति कोन करेगा ? और यदि थोक के व्यापारी न हो तो परचूरनियें माल कहाँ से लाएँगे ? अतएव दोनो प्रकार के व्यापारियो की आवश्यकता है। दोनो समान रूप से उपयोगी हैं।

इसी प्रकार वस्तु का पदार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमे प्रमाण और नय—दोनो की ही आवश्यकता होती है।

प्रमाण चार हैं—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) आगम और (४) उपमान प्रमाण।

सच्चे ज्ञान को प्रमाण कहते है। सच्चे का अर्थ है- जिस मे संशय, विपर्यय अथवा अनध्यवसाय न हो, ऐसे ज्ञान का प्रतिभास निर्मल होता है- विशद होता है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है। प्रत्यक्ष प्रमाण के भिन्न भिन्न अपेक्षाओ से अनेक भेद

किये गये हैं, किन्तु मूल मे वह दो प्रकार का है– इन्द्रियप्रत्यक्ष और नोइन्द्रियप्रत्यक्ष ।

इन्द्रियों से होने वाला ज्ञान इन्द्रियप्रत्यक्ष कहलाता है। यह प्रत्यक्ष लौकिक या व्यवहारिक दृष्टि से ही प्रत्यक्ष कहलाता है, वास्तव में प्रत्यक्ष नहीं है। वास्तविक प्रत्यक्ष वही है जिसमें इन्द्रियाँ कारण न हो, मन कारण न हो और जो साक्षात् आत्मा से ही हो। जिस ज्ञान मे इन्द्रियो की या मन की सहायता अपेक्षित होती है, वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलाता है ।

इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं–द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय । पुनः द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं–निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय और उपकरण द्रव्येन्द्रिय। निर्वृत्ति के भी दो भेद किये गये हैं–आभ्यन्तर निर्वृत्ति और बाह्य निर्वृत्ति। उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण शुद्ध आत्मप्रदेश नेत्र आदि इन्द्रियों के आकार में परिणत होकर रहे हुए हैं। ऐसी रचना- विशेष आभ्यन्तर निवृत्ति कहलाती है। इन्द्रिय नाम कर्म के उदय से इन्द्रियों के आकार मे पुद्गलो की रचना- विशेष बाह्य निर्वृत्ति है। जो निर्वृत्ति का उपकार करता है, उसे उपकरण द्रव्येन्द्रिय कहते हैं । उपकरण के भी दो भेद हैं– बाह्य और आभ्यन्तर। नेत्र इन्द्रिय मे कृष्ण शुक्ल मंडल की तरह जो समस्त इन्द्रियों मे निर्वृत्ति का उपकार करता है, उसे आभ्यन्तर उपकरण कहते हैं और नेत्र में पलक की भाँति निर्वृत्ति का उपकार करने वाला बाह्य उपकरण माना गया है ।

भाव-इन्द्रिय भी दो प्रकार की है — लब्धि और उपयोग । ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से इन्द्रियो मे अपने-अपने विषय को जानने की जो शक्ति उत्पन्न होती है, उसे लब्धि भावेन्द्रिय कहते हैं। उस शक्ति का व्यापार होना उपयोग-भावेन्द्रिय है ।

इन इन्द्रियो के निमित्त से होने वाला ज्ञान इन्द्रियप्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। भावेन्द्रिय रूप शक्ति द्रव्येन्द्रियो के अनुरूप ही द्रव्येन्द्रियो में व्याप्त हो जाती है।

पानी की आकृति कैसी ? उसका निज का कोई आकार नही है। न वह स्वयं तिरछा है, न बांका है, न टेढा है, न सीधा है, और न ऊँचा – नीचा है। पानी तो पानी है । प्यास से सतप्त प्राणी को शान्ति प्रदान करना उसका गुण है। उष्णता का निवारण करना और मैल को हटाना भी उसका काम है। परन्तु कही वह सीधा जा रहा है, कहीं वह बांका – टेढा जा रहा है तो कही ऊँचा – नीचा जाता है। यह सब पानी की स्वकीय परिणतियाँ नहीं है, पर-परिणतियाँ हैं। सीधा मार्ग मिल जाता है तो वह सीधा जाता है और यदि बांके टेढ़े मोड़ मिल जाते हैं तो वैसा जाता है। सुकड़ा मार्ग मिलता है तो गहरा हो जाता है और समतल भूमि मिलती है तो उसी आकार में फैल जाता है।

इसी प्रकार इन्द्रिय नामकर्म के उदय से जैसी द्रव्येन्द्रिय मिलती है, उसो रूप मे व्याप्त हो कर भावेन्द्रिय काम करती है ।

आंख, नाक, रसना और स्पर्शन इन्द्रियाँ, जो पुद्‌गलों से बनी हुई हैं, द्रव्येन्द्रियाँ कहलाती हैं। इनमें अपने - अपने विषय को ग्रहण करने की — जानने की जो शक्ति है, वह भावेन्द्रिय है। द्रव्येन्द्रियाँ पौद्‌गलिक हैं और भावेन्द्रियाँ आत्मा की विशेष प्रकार की शक्ति है। द्रव्येन्द्रियों के अनुरूप ही भावेन्द्रियाँ काम करती हैं।

भावेन्द्रिय एक प्रकार की ज्योति या प्रकाश है। बैटरी तो है किन्तु उसका सेल– मसाला नहीं है तो वह प्रकाश नहीं कर सकती। बैटरी का बटन कितना ही क्यो न दबाओ, प्रकाश नहीं होगा। यद्यपि बैटरी और मसाला — दोनो ही जड़ हैं और एक दूसरे पर अवलम्बित हैं मगर यहाँ द्रव्येन्द्रिय जड़ है और भावेन्द्रिय चेतना स्वरूप है। भावेन्द्रिय द्रव्य इन्द्रियों को ज्योति प्रदान करने वाली है। तभी हम कान से सुनते हैं, आंखो से देखते हैं, जिह्वा से रसास्वादन करते हैं, घ्राण से सूंघते हैं और शरीर से स्पर्श की अनुभूति करते हैं। तो उस पावर– हाऊस का नाम भावेन्द्रिय है, जो द्रव्येन्द्रिय रूप यंत्रो को सचालित करता है। द्रव्येन्द्रिय थैली है पर उसका मूल्य रुपयो से है। थैली मे रुपये न हो तो थैली की कोई कीमत नहीं। कोई भी बहिन बच्चे का मैला पोंछ कर उसे टट्टी में फेंक देती है। जब द्रव्येन्द्रिय रूपी थैली मे से भावेन्द्रिय रूपी रकम निकल जाती है तो कोरी द्रव्येन्द्रियाँ किसी काम की नहीं रहतीं और जला कर भस्म कर दी जाती हैं।

इस प्रकार भावेन्द्रिय रूप शक्ति से द्रव्येन्द्रियाँ अपने – अपने विषय को ग्रहण करती हैं। उनका यह विषयग्रहण ही इन्द्रियप्रत्यक्ष कहलाता है।

कहा जा सकता है कि यदि द्रव्येन्द्रियाँ जड – पौद्गलिक हैं, तो हमें इन हाड़ – मांस की इन्द्रियो से क्या प्रयोजन है ? यह तो जलने वाली हैं और व्यर्थ हैं। मगर याद रखिए, इनकी भी आप को आवश्यकता है ; क्योंकि इन के बिना भावेन्द्रियों का प्रकाश प्रगट नहीं हो सकता।

सूर्य का प्रकाश सम्पूर्ण विश्व मे फैला हुआ है, मगर मकान में उसे लाने के लिए दरवाजा या खिड़की तो चाहिए ! द्वार या खिड़की के अभाव मे वह किस तरह अंदर प्रवेश करेगा ? जितने अधिक द्वार होगें, जितनी ज्यादा खिड़कियाँ होगी, उतना ही अधिक प्रकाश आएगा। दरवाजो के अनुपात से ही कमरे मे कम या अधिक रोशनी होती है। यही बात इन्द्रियो के विषय मे है। किसी – किसी जीव को एक ही द्रव्येन्द्रिय और एक ही भावेन्द्रिय मिली है। द्वीन्द्रिय जीवो को दो, त्रीन्द्रियों को तीन, चतुरिन्द्रियो को चार और पंचेन्द्रियो को पाँचो इन्द्रियाँ प्राप्त हुई हैं।

जिस जीव को एक – स्पर्श – इन्द्रिय ही प्राप्त है, उस के लिए वही एक मात्र आधार है। उसे जिह्वा, नाक, आँख और

प्राप्त नही है। वह एक ही इन्द्रिय से अपनी जीवन यात्रा तय कर रहा है। उसे एक ही द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय प्राप्त है।

यदि हम भावेन्द्रिय को ही मान कर बैठे रहे, क्योकि वही चेतन रूप है; और द्रव्येन्द्रिय को स्वीकार न करे, क्योकि वह जड है; तो यह उचित न होगा। आखिर दाल – भात – रोटी भी तो जड है, परन्तु उनके बिना चेतन का काम नही चलता। याद रखिए, जब तक हम साधकदशा मे है, तब तक सभी समुचित साधनो का अवलम्बन लेकर चलना होगा। 'समुचित' का अभिप्राय यह है कि जिस कार्य की सिद्धि के लिए जो साधन उपयोगी और आवश्यक है, उसके लिए उसी साधन का प्रयोग करना चाहिए। क्षुधानिवृत्ति का उचित साधन रोटी है, मिट्टी नही। इस प्रकार जड का काम जड से ही चलता है।

मै सब को मानता हूँ, मगर रोटी की जगह रोटी और धोती की जगह धोती ही मानता हूँ। अगर रोटी और धोती को एक ही बना दें तो न रोटी का, न धोती का और न टोपी का ही काम चलेगा। अतएव मै कहता हूँ कि हम साधको को जड और चेतन – दोनों पदार्थो की आवश्यकता है, किन्तु जड़ से जड़भावी कार्य होगा और चेतन से चेतनभावी कार्य होगा। जड़ को जड़ और चेतन को चेतन ही मानना उचित है।

जिस दुकानदार की दुकान मे आय और व्यय के खाते अलग–

अलग चलते हैं , उसी का काम ठीक चलता है । जो दोनों खाते एक कर देगा , उसका दिवाला निकलते देर नही लगेगी । इसी प्रकार जड़ और चेतन को अलग - अलग भाव में रखना तो ठीक है, मगर दोनों को शामिल कर दिया तो दिवाला निकलते देर नही लगेगी ।

इस प्रकार द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय — दोनों को ही मानना युक्तिसंगत है , मगर दोनो को अपने — अपने यथार्थ रूप मे ही स्वीकार करना चाहिए । बैटरी और मसाला दोनों मिल कर प्रकाश देते हैं । विद्युत् के साथ अगर लट्टू न हो तो आप कैसे प्रकाश पा सकते हैं ? वल्व है और विद्युत् नही तो काम नहीं चलेगा । इसी प्रकार विद्युत् हो , मगर वल्ब न हो तो भी काम नहीं चल सकता । दोनो के सहयोग से ही विद्युत् का प्रकाश प्रादुर्भूत होता है ।

द्रव्येन्द्रियाँ बल्व है तो भावेन्द्रियाँ विद्युत् है । दोनों के संयोग से संसारी जीव को ज्ञान का प्रकाश मिलता है ।

मैं कह रहा था कि एकेन्द्रिय जीव को एक ही दरवाजा मिला है तो उसके अनुकूल ही प्रकाश और बोध उसे प्राप्त होता है । अन्य चार इन्द्रिय वालो को उन — उन इन्द्रियों के अनुसार प्रकाश और बोध मिला है ।

सज्जनो ! यह गरिष्ठ माल हजम होनां जरा मुश्किल है ।

मैं उापको तरह – तरह की चाटों को खाने से वचाना चाहता हूँ ; क्योंकि उन्हे ज्यादा खाने से जठराग्नि ठीक नहीं रहती। जिस अंग से काम नहीं लिया जाता , वह कमजोर हो जाता है। अगर आप ठोस माल न खाकर चाट ही चाट चाटो तो अग्नि मंद हो जाएगी। ठोस माल ज्यादा नहीं , थोड़ा – थोड़ा खाते रहोगे तो आप की मशीनरी उचित रूप मे काम करती रहेगी और अवसर आने पर भरा थाल भी हड़प सकोगे।

आज संसार में जो वड़े बड़े विद्वान नजर आते है , वे सव कव विद्वान वने ? आखिर वे भी किसी दिन साधारण बालकों के सामान ही थे। उन्होने प्रतिदिन थोड़ा – थोड़ा अभ्यास किया। करते करते उस स्थिति पर पहुँचे कि उन्होंने वड़ी– वड़ी परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर ली और धुरंधर विद्वानों की गणना मे आये। कहावत है— 'कन कन जोड़े मन जुड़े।' अर्थात् थोड़ा – थोड़ा सा संग्रह करते करते भी वहुत संग्रह हो जाता है।

अच्छा , इन्द्रियप्रत्क्ष की बात पूरी हुई। अब नोइन्द्रियप्रत्यक्ष को लीजिए। जिस प्रत्यक्ष ज्ञान मे किसी भी इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं रहती , वह नोइन्द्रियप्रत्यक्ष कहलाता है। अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान नोइन्द्रियप्रत्यक्ष हैं। इनके द्वारा पदार्थ का जो विशिष्ट वोध होता है, उसमें इन्द्रियो का दखल नहीं है। यह इन्द्रियो की सहायता के बिना ही , केवल आत्मा के द्वारा ही वस्तुस्वरूप को

जानते हैं। जैसे विजली के प्रकाश के लिए लट्टू की आवश्यकता है, परन्तु सूर्य के प्रकाश के लिए नहीं। इन ज्ञानो का प्रकाश आत्मा के द्वारा ही होता है।

चार प्रमाणों मे से यह प्रत्यक्ष प्रमाण हुआ। वहुत संक्षेप मे ही उसका प्रतिपादन किया है। ज्ञान अथाह सागर के समान है। जो वुद्धिमान है अवसर का ज्ञाता है, वह प्रतिपादित विषय को भलीभांति समझ लेता है। किन्तु जिसे दुनियादारी का भी ज्ञान नहीं है, शिष्टाचार का भी वोध नहीं है, वह ज्ञान जैसे गंभीर विषय को किस प्रकार समझ सकता है?

भद्र पुरुषो! कोई वात उचित समय पर ही शोभा देती है-और बिना अवसर की बात हानिकारक होती है। कोई भले बड़ा कहलाता हो, फिर भी अवसर के विपरीत बात करने से उसे अपमानित होना पड़ता है।

राजा भोज स्वयं भी बड़ा विद्वान था और कहा जाता है कि उसके आश्रम मे ग्यारह सौ संस्कृत भाषा के धुरन्धर पण्डित सम्मानित होते थे। फिर भी मनुष्य मनुष्य है और जब तक वह अल्पज्ञ है, उससे भूल हो जाना स्वाभाविक है। मनुष्य का स्खलित हो जाना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है।

एक वार राजा भोज की पत्नी–महारानी अन्तःपुर में अपनी सखियो के साथ आमोद–प्रमोद के साथ क्रीड़ा कर रही थी। उसे आमोद की दुनिया के सिवाय दूसरी दुनिया का कुछ पता नही था। वह अपने रंग में मस्त हो रही थी। ऐसे अवसर पर प्रायः मन का पर्दा हट जाता है और गुप्त वातें भी प्रकट हो जाया करती हैं।

हां, – तो जब रानी सखियों के साथ वार्तालाप मे लगी थी, अचानक राजा भोज उसके पास पहुँच गया और रानी के पास खड़ा हो गया। राजा के अकस्मात् आ जाने से रानी सहसा चौंक गई और उसकी सब सखियाँ भयभीत और लज्जित सी हो गई। मगर रानी ने अपने आप को सँभाला और सोचा–उफ ! गजब हो गया। मै महाराज का स्वागत न कर पाई ! फिर उसके मन में आया–एक तरह से यह ठीक ही हुआ। महाराज को शिक्षा मिलनी चाहिए। यह सोच कर रानी ने खड़ी होकर कहा– आइए मूर्खराज जी ! आपका स्वागत है।'

राजा के लिए 'मूर्खराज' विशेषण नवीन था। वड़े-वड़े दिग्गज विद्वान् उसकी विरुदावली का वखान तो किया करते थे, परन्तु किसी ने इस प्रकार के विशेषण का प्रयोग नही किया था। अतएव यह विशेषण सुन कर वह चकित और विस्मित हो गया। उसकी अकल का तोता उड़ गया और पैरो के नीचे से मिट्टी खिसक गई। वह सोचने लगा– जो रानी हृदय से मेरा स्वागत किया

करती था और जी हुजूर के सिवाय बात नही करती थी, उसने आज मुझे मूर्खराज कह कर सम्बोधित किया ! साथ ही उसने यह भी सोचा—रानी बुद्धिमती और विवेकशीला है । उसके इस सम्बोधन मे कुछ रहस्य अवश्य होना चाहिए ।

फिर भी वह कुछ न बोला और चुपचाप चला गया । दूसरे दिन राजा दरबार में गया और अपने सिंहासन पर आरूढ़ हो गया । समस्त कर्मचारी यथोचित अभिवादन करके अपने अपने स्थान पर बैठ गये । तत्पश्चात् एक-एक करके पण्डित आने लगे । राजा ने क्रमशः सभी का 'आइए मूर्खराज' कह कर स्वागत किया ।

असल बात यह थी कि राजा का मन अतीव आकुल—व्याकुल हो रहा था । उसके समाधान के लिए ही राजा ने आज पण्डितो पर यह नया प्रयोग किया था । वह सोचता है-अगर मै स्पष्ट रूप से कह दूं कि मुझे रानी ने 'मूर्खराज' कहा है, अतः तुम्हें भी मै यही कहता हूँ, तो मेरी पोल खुल जाएगी और मेरे लिए घोर अपमान की बात होगी । इससे मै हास्यास्पद बन जाऊँगा । अतएव मै प्रत्येक पण्डित को 'मूर्खराज' कहता चलूँ, तब इसके रहस्य का उद्घाटन स्वतः हो जाएगा ।

इस प्रकार कहते-कहते एक हजार और ६६ पण्डित आ चुके

और अपना नया टाइटिल लेकर यथास्थान बैठ गये। किसी को निर करण या प्रतिवाद करने का साहस नहीं हुआ। वे मन मसोस कर रह गये। सोचने लगे-हम वेद, स्मृति, पुराण और साहित्य शास्त्र के पण्डित हैं, फिर भी महाराज ने हमे मूर्खराज कह दिया! मगर किसी की हिम्मत न हुई कि ऐसा कहने का कारण पूछें! आखिर जीविका का प्रश्न सामने था और वे नहीं चाहते थे कि राजा किसी भी प्रकार अप्रसन्न हो जाय!

सज्जनो! भाड़े के गुरू खुल कर बात नहीं कहते। जिस गुरू को अपने भक्तों से स्वार्थ – साधन करना होता है, वह पानी भरती बात कहता है। ठकुरसुहाती कहे बिना उसका काम नहीं चलता। अतएव सब पण्डित मौन भाव से मूर्खराज की पदवी स्वीकार करके बैठ गये।

अन्त मे महापण्डित कालीदास आए। वे प्रसिद्ध और बड़े प्रतिभाशाली प्रचण्ड विद्वान् थे। आशुकवि थे। वे एक साधारण गडरिये से महाकवि बने थे।

सज्जनो! ज्ञान, विद्या और बुद्धि किसी जाति–विशेष के हिस्से मे नहीं आई है। जिसने भी ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम किया, उसी व्यक्ति के हिस्से मे ज्ञान आता है। वह प्रत्येक आत्मा का स्वभाव है और स्वभाव मे कोई जाति भेद नहीं है। जातियाँ

लोक - कल्पित हैं। उनकी कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है।

तो ज्यों ही कालीदास आए, राजा ने अपना आखिरी निशाना साधा। वह चाहता था कि किसी प्रकार निशाना ठीक बैठे और मेरा मनोरथ सिद्ध हो, अर्थात् मेरी जिज्ञासा की पूर्त्ति हो। अतएव राजा ने उनसे कहा— 'आइए मूर्खराज जी!'

कालीदास चूकने वाले नहीं थे। उतकी सूझबूझ असाधारण थी। इसी कारण उनकी महान कृतियाँ आज सारे संसार मे विख्यात हैं और वड़े आदर के साथ पढ़ी जाती हैं। वे कविकुलगुरू कहलाते हैं।

यह तो संसार का नियम ही है कि जीव ऊँचे से नीचे और नीचे से ऊपर आता जाता रहता है। अतएव किसी जाति या कुल पर अभिमान करने की आवश्यकता नही। ऊँची जाति का अभिमान करने वालो! मनुष्यता की कसौटी जाति नहीं है। कुल से कोई व्यक्ति उच्चत्व प्राप्त नही करता। जाति और कुल को बड़ा समझना गुणो का अपमान तरना है। सदाचार की अवहेलना करता है। वास्तव मे मनुष्य अगर ऊँचा उठता है तो सदाचार से और नीचा गिरता है तो दुराचार से। जाति मनुष्य को नीच गति या उच्चगति में जाने से नहीं रोक सकती और न उसमें भेज सकती है। मनुष्य अपने सद्गुणो और दुर्गणो के कारण ही पूजनीय या निन्दनीय

होता है। अतएव सद्गुणो की पूजा और दुर्गुणो से नफरत करनी चाहिए।

हां तो कालीदास ने राजा भोज के मुख से आज अपने अभिवादन में कहे गये शब्द सुने तो उसे आश्चर्य हुआ। वह सोचने लगा राजा विवेकशील है, विद्वान् है और विद्वानो का उचित आदर करने वाला है। इसने कभी किसी विद्वान् को इस प्रकार सम्बोधित नहीं किया। आज जो सम्बोधन किया है उसमे कुछ रहस्य अवश्य होना चाहिए। ऐसा सोच कर कालीदास ने राजा से कहा, महाराज आपने मुझे मूर्खराज क्यो कहा ? मूर्ख तो वह होता है जिसमे इन दुर्गुणो मे से कोई दुर्गुण हो मुझमे तो इनमे से कोई भी दुर्गुण नहीं है,

खादन्न गच्छामि, हसन्न जल्पे ,
गतं न सोचामि कृतं न मन्ये ।
द्वाभ्यां तृतीयो न भवामि राजन् !
किं कारणं भोज ! भवामि मूर्खः ॥

आखिर मुझे मूर्ख कहने का कारण क्या है ? मै चलते-चलते खाता नहीं हूँ। एक जगह बैठकर खाता हूँ। चलते-चलते खाना मूर्खता का लक्षण है।

भाइयो ! यह सिर्फ कालीदास का ही कहना नहीं है। जैन

संस्कृति का भी यही आदेश है। जैन धर्म मे पाँच समितियाँ बतलाई गई हैं। उनमें पहली ईर्यासमिति है। ईर्यासमिति चलने की यतना का नाम है। उसमें दस बातों का परित्याग करना पड़ता है— शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श के उपभोग का तथा पांच प्रकार के स्वाध्याय का। इसमें रस के उपभोग का जो त्याग बतलाया गया है, उससे भोजन के त्याग का ग्रहण हो ही जाता है। वास्तव में एक साथ दो क्रियाएँ सुचारू रूप से नहीं हो सकतीं। किन्तु आज के पाश्चात्य रंग मे रँगे हुए और उनकी नकल करने वाले वाबू लोग खड़े-खड़े पेशाब करते हैं और चलते-चलते चबाते-खाते जाते हैं। मगर इस कुसंस्कृति को तिलांजलि देनी होगी और घर की सभ्यता अपनानी होगी। तभी देश और समाज का उत्थान होगा।

हाँ, तो कालीदास कहते हैं—मैं चलते-चलते खाता नहीं हूं और बात करते-करते हँसता नहीं हूँ'

यह दूसरी बात भी विशेष रूप से ख्याल रखने योग्य है। जो बोलते-बोलते हँसता है—हँसी-हँसी में ही बात करता है, उसका परिणाम अच्छा नहीं निकलता। लोग उसकी योग्यता की तत्काल परीक्षा कर लेते है। अतएव बोलते समय गभीरता रखनी चाहिए जो बात-बात में हँसता है, वह मूर्ख होता है।

कालीदास ने मूर्ख का तीसरा लक्षण बतलाते हुए और अपने

मे उस लक्षण का निषेध करते हुए कहा—मैं उपकार करके डींगे नहीं मारता। मैं आत्म – प्रशंसा नहीं करता फिरता कि-मैंने ऐसे किया, वैसा किया !

मनुष्य का कर्तव्य है कि उससे जिस किसी का जो उपकार बन जाय, वह कर दे, मगर शेखी न मारता फिरे। मनुष्य को जो भी साधन प्राप्त है, सब नाशशील हैं। जब यह जीवन ही स्थायी नहीं है तो धन, सम्पत्ति आदि साधन स्थायी कैसे हो सकते हैं ! उन सब का एक दिन विनाश होने वाला है, अतएव उन से अगर दूसरों को कुछ भलाई हो सकती है तो उसे करना ही उचित है। सत्पुरुष अवसर पाकर परोपकार से नहीं चूकते। मगर परोपकार करके ढोल पीटना उनका स्वभाव नहीं होता। जो किंचित् परोपकार करके उसका बखान करता फिरता है, वह मूर्ख होता है।

कालीदास ने मूर्ख का एक और लक्षण बतलाते हुए कहा—जो बात बीत जाती है उसके लिए मैं सोच नहीं करता। कहा भी है—

गई वस्तु सोचे नहीं, आगम वांछा नाहिं।

बुद्धिमान पुरुष यही विचार करता है कि जो हुआ सो हुआ। जो घटना घटित हो चुकी है, उसके लिए शोक, चिन्ता, अथवा विषाद करने से क्या लाभ है ? कितना भी शोक क्यो न किया

जाय, घटित घटना बदल नहीं सकती। ऐसी स्थिति में शोक करके अपने आप को दुखी करना बुद्धिमत्ता नहीं है, बल्कि मूर्खता है।

इसके अतिरिक्त जहाँ दो आदमी बातचीत करते हो, मै बिना बुलाये वहाॅ नही जाता हूँ। दो के बीच मे अचानक जा कूदना भी मूर्खता का लक्षण है।

अन्त मे कालीदास कहते हैं—महाराज ! इन मे से कोई एक भी लक्षण जिसमे विद्यमान हो, वह मूर्ख कहलाता है। मुझ मे कोई लक्षण नहीं, फिर आपने मुझे मूर्ख क्यो कहा ?

कालीदास ने मूर्ख के जो लक्षण बतलाये, उनसे भोज की समस्या हल हो गई थी। उसकी जिज्ञासा की पूर्त्ति हो चुकी थी। उसे सन्तोष और-हर्ष हुआ। तब वह कहने लगा-'अब कहता हूँ—आइए पण्डित जी महाराज !'

सज्जनो ! राजा अपने अपमान से क्रुद्ध था और क्रोध की स्थिति मे कुछ भी कर सकता था और उससे कोई बड़ा अनर्थ भी हो सकता था। मगर उसका विवेक लुप्त नहीं हुआ और उसने अपनी भूल स्वीकार कर ली।

आज तो यह हाल है कि साधारण से

ऐरे-गैरे लोग भी भूल करके स्वीकार नहीं करते। वे समझते हैं कि भूल स्वीकार करने से उनकी प्रतिष्ठा में बट्टा लग जायगा। मगर वास्तव मे भूल स्वीकार करना उच्च कोटि के मनुष्य का काम होता है। वह अपनी भूल को छिपाने का प्रयत्न नहीं करता और स्पष्ट प्रकट कर देता है। वह जानता है कि छद्मस्थ से भूल हो जाना स्वाभाविक है। कौन ऐसा अल्पज्ञ मनुष्य है जिसने कभी भूल न की हो और जिससे कभी भूल न हो सकती हो! इस प्रकार विचार कर शुद्ध हृदय से अपनी भूल स्वीकार करना भविष्य मे भूलो से बचने का अच्छा उपाय है। जो भूल करते हैं, मगर उसे स्वीकार करना नहीं चाहते, वे वास्तव में भूल पर भूल करते हैं और एक भूल को छुपाने के लिए अनेक भूलें करते हुए अपने आपको विनाश के पथ की ओर ले जाते हैं। बुद्धिमान पुरुष ऐसा नहीं करता।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य परिश्रम करके शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। कालीदास महाकवि इस सच्चाई के उाहरण हैं।

तो मैं विस्तार रुचि सम्यक्त्व के विषय में कह रहा था। जिसने पदार्थों के स्वरूप को विस्तार पूर्वक समझ लिया है, उसे विस्तार रुचि सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। जो नयों और प्रमाणों द्वारा द्रव्य, गुण और पर्याय को समझ लेता है, उसके पास मिथ्यात्व नहीं फटकता।

सज्जनों! आप अपने को अतीव भाग्यवान समझें कि आपको वीतराग–वाणी श्रवण करने, पढ़ने और उस पर विचार करने का सुअवसर मिला है। इसका लाभ लेकर शास्त्रों को समझने का प्रयत्न कीजिए। जो ऐसा करेंगे, वे संसार-समुद्र से पार हो जाएंगे।

ब्यावर
१९—९—५६

क्रिया मीमांसा

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः, सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्त सुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

उपस्थित सुज्ञ आत्माओ !

श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने उत्तराध्ययन सूत्र के २८वें अध्ययन मे मोक्ष मार्ग का दिग्दर्शन कराया है। उसी में समकित के दस भेदो का निरूपण किया है। उसी आधार पर मैं ने भी आपको समकित के भेदों का स्वरूप समझाने का प्रयत्न किया है।

कल विस्तार रुचि सम्यक्त्व के विषय में कुछ कहा गया था। बतलाया गया था कि जिस व्यक्ति ने प्रमाण और नय के द्वारा पदार्थों को सम्यक् प्रकार से समझ लिया है; और यह जान लिया है कि

अमुक वचन अमुक नय का है अथवा प्रमाण का है, किस दृष्टिकोण से कौनसा कथन किया गया है, उस व्यक्ति को इस विस्तार रूचि सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है ।

विस्तार पूर्वक पदार्थो को – तत्त्वो को समझ लेने से समकित निखर जाती है, परिमार्जित हो जाती है और मिथ्यात्व का रहा सहा अंश भी हट जाता है ।

किसी भी वस्तु को परिमार्जित अवस्था मे लाने का भी कोई मकसद, कोई उद्देश्य या लक्ष्य होता है और वह यही होता है कि वह वस्तु काम में लाई जाने वाली है । वह जीवन मे उतारने के लिए साफ की गई है ।

विस्तार रूचि सम्यक्त्व के पश्चात् शास्त्रकार क्रिया- (भाव) रूचि सम्यक्त्व पर जोर देते हैं ।

सज्जनो ! सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाने—दर्शन अथवा श्रद्धान हो जाने पर भी जब तक हम उसे कार्य रूप मे परिणत नहीं करेंगे । तब तक हमारी साधना पूरी नहीं हो सकती और हमारा प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता । अतएव हमने जो कुछ भी दर्शन किया है, निश्चय किया है, जाना है । उसे अब जीवन मे उतारना है, असली रूप देना है । जो ज्ञान कोरा ज्ञान ही बना रहता है और क्रिया के

रूप में परिणत नहीं होता, वह एक प्रकार से व्यर्थ है, क्योंकि ज्ञान का फल चारित्र है और जिस ज्ञान ने चरित्र को जन्म नहीं दिया, निष्फल है।

तो ज्ञान का फल क्रिया है और क्रिया का अर्थ है काम करना व्यापार करना या प्रवृति करना। वह दो प्रकार की है—सावद्य क्रिया और निरवद्य क्रिया।

भद्र पुरुषो ! क्रिया का क्षेत्र बड़ा विशाल है। आत्मोत्थान के चौदह स्तर—स्टेज हैं, जिन्हें शास्त्रीय परिभाषा में गुणस्थान कहते हैं। प्रथम गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुण स्थान तक सक्रिय अवस्था रहती हैं। यह तेरहों गुणस्थान सयोग हैं,अर्थात् इन मे जीव के योग का व्यापार बना रहता है। और जहाँ योग है वहाँ क्रिया का होना अनिवार्य है। अतएव तेरहवें गुणस्थान तक मन, वचन और काय से क्रिया होती रहती है। आत्मा जब चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश करता है और अयोग अवस्था प्राप्त करता है, तभी वह अक्रिय होता है।

योग का अर्थ है जुड़ना। जब तक यह आत्मा शुभ-अशुभ अथवा शुद्ध-अशुद्ध प्रवृत्तियो मे जुड़ा हुआ है, उसे क्रिया की आवश्यकता होती ही है। कोई शुभ क्रिया करता है, कोई अशुभ। कोई शुद्ध क्रिया करता है तो कोई अशुद्ध। मगर क्रिया का प्रवाह जल्दी बन्द होने वाला नहीं है। हम चाहें कि अभी क्रिया का परि-

त्याग करके अक्रिय बन जाएं, तो यह असंभव है अलबत्ता क्रमशः प्रयत्न करते करते अक्रिय अवस्था तक पहुँचा जा सकता है।

जब तक शुभ या अशुभ क्रिया है, हलन-चलन की क्रिया विद्यमान है, चाहे वह स्थूल हो या सूक्ष्म हो, तब तक मोक्ष नहीं हो सकता। समस्त क्रियाओं से पूर्ण रूपेण मुक्त हो जाना-निष्क्रिय हो जाना ही मोक्ष है। मोक्ष कोई काली पीली या धोली वस्तु नहीं है। मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाओं से पूर्णतया विमुक्त हो जाना ही मोक्ष है। आज ही कोई क्रिया हीन हो जाना चाहे तो वह असंभव है और अवांछनीय भी है। कोई व्यक्ति दिल्ली जाना चाहे और चाहे कि एक कदम रखते ही पहुँच जाऊं तो यह कैसे संभव हो सकता है? वह दिल्ली पहुँच तो सकता है, मगर एक-एक कदम जमाते-जमाते पहुँच सकता है। ड्राइवर भी गाड़ी को ब्रेक लगा कर एकदम रोकना चाहे तो गाड़ी के उलट जाने का भय रहता है। अतएव कुशल ड्राइवर कुछ फासले से गाड़ी के वेग को धीमा करते-करते फिर एकदम ब्रेक लगाता है। ऐसा करने से 'एक्सीडेंट' (दूर्घटना) होने की संभावना नहीं रहती।

अभिप्राय यह है कि तेरहवें गुणस्थान तक आत्मा सक्रिय रहती है; किन्तु क्रिया-क्रिया मे अवश्य अन्तर होता है। प्रथम गुणस्थान

वाले की क्रिया और प्रकार की होती है। फिर उत्तरोत्तर बदलती-बदलती तेरहवें गुणस्थान में और ही प्रकार की क्रिया हो जाती है। प्रथम गुणस्थान वाले की प्रत्येक क्रिया मिथ्या है। दूसरे गुणस्थान वाले की सम्यक्-असम्यक् दोनो प्रकार की होती है और तीसरे गुणस्थान वाले की गिरती हुई होती है, मगर चतुर्थ गुणस्थान वाले जीव की क्रिया विवेक लिये हुए होती है। चतुर्थ गुणस्थान में सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। सम्यग्दृष्टि जीव खाता-पीता, सोता-उठता, बैठता, व्यापार करता, मकान बनवाता और ऐसी ही दूसरी क्रियाएँ भी करता है, मगर पहले की तीन स्टेज वाला से उस की क्रियाओ में अन्तर होता है। अर्थात् उसकी क्रियाएँ आसक्ति भावको लिए हुये नहीं होतीं

सज्जनो! जब तक शरीर है, तब तक शरीर को निभाने के लिए अनेक क्रियाएँ करनी ही पड़ती हैं, भले हो वह व्यक्ति अवतार ही क्यो न हो! उनकी क्रियाओं के पीछे जो मनोवृत्ति होती है, उसमे भिन्नता अवश्य रहती है।

जीव जब पाँचवे गुणस्थान मे प्रवेश करता है तो उसकी क्रियाओ का रूप और ही प्रकार का हो जाता है। उसकी क्रियाएँ विवेकपूर्ण तो होती ही हैं, उनमे संयम का भी अंश आ जाता है। वह अविवेक और विचार से कोई क्रिया नहीं करता। हाँ, हो सकता

है कि कभी किसी क्रिया मे भूल हो जाय, फिर भी उसकी भावना सदैव विवेकपूर्वक क्रिया करने की ही होती है। उसे हिंसाजनक क्रिया भी करनी पड़ती है-छह कायो का विनाश करना भी उसके लिए अनिवार्य होता है। वह मकान बनवाता है, अपनी सन्तति का विवाह भी करता है, व्यापार धधा भी करता है, और ऐसा किये बिना उस की लौकिक-गार्हस्थिक साधनाएँ पूरी नही होती, फिर भी निरपराधी त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का त्याग उसे करना ही चाहिए।

पचम गुणस्थान वाले जीव की क्रियाएँ सावद्य भी होती है और निरवद्य भी होती हैं। जब वह सामायिक कर रहा है, पौषधोपवास की क्रिया मे है या छह काया की क्रिया मे है, तो वहाँ निरवद्य क्रिया कर रहा है। तात्पर्य यह है कि उसकी जो-जो क्रियाएँ धार्मिकता को लिये हुए हैं, वे सब निरवद्य क्रियाएँ है। मगर याद रखिए कि धार्मिक क्रियाओ मे हिंसा को स्थान नहीं है। इसीलिए मैं बार-बार चेतावनी दिया करता हूँ कि विधवा और सुहागिन को एक, मत कर दो। धर्म प्रवृत्ति और हिंसा प्रवृत्ति के मार्ग भिन्न भिन्न है। धर्म प्रवृत्ति मे हिंसा को कोई स्थान नही है। जिस मे हिंसा हो उसे धर्म प्रवृत्ति नही कहा जा सकता। वह अमृत ही क्या है जिस मे जहर मिला हो! अमृत की मिठास से भले ही मिला हुआ जहर मालूम न हो, किन्तु आखिर तो वह अपना असर दिखलाएगा ही-उसका फल हुए बिना

नहीं रहेगा। वह तो प्राणों का विनाश करने के लिए ही डाला गया है।

विष मिश्रित मोदक स्वादिष्ठ प्रतीत होते हैं; मीठे लगते हैं और जायके दार भी होते है, किन्तु भूल न जाइए कि भीतर जाकर वे अपना कार्य आरम्भ कर देते हैं और मधुर रसास्वादन के समस्त आनन्द को प्राणान्त के रूप मे पलट देते हैं। इसी प्रकार जिस में हिंसा रही हुई है वह धर्म प्रवृत्ति ही कैसी ! मगर हम देखते हैं कि कितनेक जैन सम्प्रदायो मे भी ज्यों ज्यों पर्व के दिन आते हैं, धर्माराधना के पवित्र दिन आते हैं, त्यों-त्यो वे अग्नि, पानी, फल-फूल आदि के लिए तथा दूसरे जीवो के लिए भी प्रलय मचा देते हैं। तुम्हारी दृष्टि मे वह पंव है, मगर उन बेचारे जीवो के लिए वह प्रलय का दिन हो जाता है। किन्तु उन मूक जीवो की सुनने वाला कौन है ? हाँ उनकी सुनवाई करने वाले तीर्थंकर भगवान् अवश्य हैं और उन्होने दुनिया के सभी लोगो को बतला दिया है कि जो धर्म के नाम पर हिंसा करता है वह मंद बुद्धि है। शास्त्र में पाठ है— 'धम्महेउं' अर्थात् जो धर्म के लिए—देव के लिए हिंसा करता है, वह बुद्धिमान् नहीं है, उस की बुद्धि विकसित नहीं हुई है, वह मूर्ख है, बल्कि मंद है और इसी कारण उसे धर्म का पूरा वोध नहीं हो पाता। जैसे धुंधली आंखो से पुरुष और ठूंठ-दोनो ही एक-से दिखाई देते हैं,

इसी प्रकार उस जीव को भी धर्म- अधर्म का निर्णायक बोध नहीं हो पाता ।

हाँ, तो मै कह रहा था कि पाँचवे गुणस्थान वाले की क्रियाएँ सावद्य भी- होती हैं और निरवद्य भी होती हैं । उसकी जितनी भी लेन देन, खान पान और रहन सहन आदि की क्रियाएँ है, वे सब सावद्य है और जितनी क्रियाएँ निवृत्ति रूप हैं, वह निरवद्य है । अतएव शास्त्र कहते हैं कि—ऐ मनुष्य ! यदि तुझे मोक्ष मे जाना है तो एक तरफ से अपने आप को हटाना और एक तरफ लगाना होगा । एक को छोड़ दो और एक को ग्रहण कर लो—असयम से निवृत हो जाओ और संयम मे प्रवृत्ति करो । चारित्र का भी यही स्वरूप बतलाया गया है—

असुहायो विणिवित्ती , सुहे पवित्ती य जाणचारित्तं

अर्थात्—अशुभ व्यापार से हटना और शुभ व्यापार मे प्रवृत्ति करने को ही चारित्र समझना चाहिए ।

इस महासूत्र की उद्घोषणा जिसके जीवन मे उतर जाती है, मोक्ष उसके लिए दूर नहीं रह जाता ।

पापमयी क्रियाएँ भी अनेक प्रकार की है, उन से निवृत हो जाओ और धार्मिक क्रियाओ मे, जो सहस्रमुखी हैं, प्रवृत्त होओ । बात-बात में धर्म और बात-बात मे पाप है ! केवल दृष्टि और उसके

पीछे रही हुई भावना का अन्तर है।

सज्जनो! मैं कह रहा था कि क्रियारुचि सम्यक्त्व भी है; परन्तु कौन-सी क्रिया रुचि समकित रूप है, यह समझने की बात है। यों तो एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक-सभी प्राणी क्रियाएँ करते हैं, यानी तेरहवें गुणस्थान तक का कोई भी जीव अक्रिय नहीं है; फिर भी क्रिया के स्वरूप को समझ कर क्रिया करनी चाहिए। क्रिया के विषय मे भी उपादेय-हेय का विवेक होना चाहिए।

हाँ, चौदहवें गुणस्थान मे क्रिया नहीं है। वह अक्रिय गुणस्थान है। वहाँ क्रिया के साधन समाप्त हो चुके हैं। वह बिजली का पंखा जो थोड़ी देर पहले चल रहा था और पवन की उदीरणा कर रहा था, विद्युत् के संबंध से ही चल रहा था। अकस्मात् बिजली का तार टूट गया और बिजली की सप्लाई बंद हो गई। अब किसके बल पर पंखा चलेगा? इसी प्रकार जब तक क्रिया के निमित्त विद्यमान रहते है तब तक क्रिया होती है; जब निमित्त नहीं रहते तो क्रिया भी नहीं होती।

हाँ, तो पाँचवाँ गुणस्थान भी सक्रिय है। किन्तु चौथे गुणस्थान मे एकान्त रूप से सावद्य क्रियाएँ थी वहाँ अब पाँचवें मे सावद्य के साथ-साथ निरवद्य क्रियाएँ भी होने लगीं। पाँचवें गुणस्थान वाला जीव व्यवहार चलाने के लिए क्रियाएँ करता है तो साथ ही साथ

आत्मा का परिमार्जन करने के लिए धार्मिक क्रियाएँ भी करता। वह समझता है कि मेरी इन क्रियाओ से मेरी आत्मा का कल्याण होगा। सज्जनो ! ऐसा नही है कि वह धार्मिक क्रियाएँ तो अपने लाभ के लिए करे और उसके फलस्वरूप नगर के सभी लोगो को बैकुंठ मे ले जावे। जो करनी करता है, उसी को फल मिलता है। एक की करनी का फल दूसरे को नही मिल सकता।

आपने ऐसी किंवदन्तियाँ सुनी होगी कि एक आदमी ने करनी की और वह अपनी करनी के फलस्वरूप सारी नगरी को ही अपने साथ लेकर बैकुंठ चला गया। मगर ऐसी कहानियो मे कोई सच्चाई नही है। बैकुठ मे चला जाना इतना सस्ता सौदा नही है। यह एक अटल सिद्धान्त है कि जो करनी करेगा, वही उसका फल भरेगा। तो पाँचवाँ गुणस्थान वाला जो क्रिया करता है, वही अपनी क्रिया का फल भोगता है। उसकी कुछ क्रियाएँ कुटुम्ब पोषण और व्यवहार के लिए होती है और कुछ धार्मिक क्रियाएँ अपनी आत्मा से सबंध रखने वाली होती हैं। वह पच्चक्खाण, पच्चक्खाणी, व्रताव्रती, संवुडा-संवुड या सयतासंयत वृत्ति वाला होता है। उसकी कुछ कियाएँ साधु वाली और कुछ गृहस्थ वाली होती है। धर्मवृत्ति वाली क्रियाएँ तो सयति-क्रियाएँ है और इतर भरण-पोषण की सभी क्रियाएँ असंयमी की क्रियाएँ है। हा, यह अवश्य है कि उसका अन्तःकरण

विवेक से पूत होता है, अतएव उसकी क्रियाएँ मिथ्यादृष्टि के समान पाप रूप नहीं होतीं।

फिर भी यह स्पष्ट है कि पाँचवें गुणस्थान वाला जीव कुछ इधर को हो जाता है। सुनार के पास कई प्रकार के औजार होते हैं। वह पात्र आदि कई प्रकार की चीजें बनाने के लिए, छीलने के लिए और साफ करने के लिए कई औजारों का प्रयोग करता है। उस के पास आरा है, जिससे वह लट्ठे मे से पाटिया चीर-चीर कर निकालता है। उसमे दो आदमी काम करते हैं। दोनो प्रायः आमने सामने या ऊपर-नीचे बैठते हैं और बारी-बारी से आरे को अपनी ओर खींचते हैं। पाटिया चीरते समय उसमे से बुरादा निकलता है, जो नीचे की ओर विशेष उड़ता है और कुछ ऊपर की ओर भी उड़ जाता है; क्योंकि भारी वस्तु का स्वभाव विशेष रूप से नीचे ही आने का है।

बढ़ई के पास दूसरा औजार वसूला होता है। उसका काम छिलको को अपनी ओर खींचने का है। इसी प्रकार धर्मी पुरुष अपनी आत्मा के कल्याण की ही करनी करते हैं।

बढ़ई के पास एक होता है बरमा। उसका काम ऊपर की ओर ही बुरादे को फेंकना है। एक औजार नाहरणी भी होता है, जो

नीचे की ओर ही जाती है।

इसी प्रकार गृहस्थ-जीवन मे कुछ अपने लिए और कुछ कुटुम्ब के लिए क्रियाएँ करनी पड़ती है। इसी कारण पाँचवें गुणस्थान वाला जीव व्रताव्रती है। अर्थात् वह सावद्य क्रियाएं भी करता है और निरवद्य क्रियाएं भी करता है। श्रावक की जो-जो धर्म प्रवृत्ति की क्रियाऐं हैं, वे सब निरवद्य है और जो संसार की क्रियाएं है, वे सावद्य हैं। श्रावक की कोई भी धार्मिक क्रिया ऐसी नहीं, जिसमे हिंसा को स्थान हो। अगर किसी धार्मिक क्रिया मे धर्म मानकर हिंसा की जाती है तो वह क्रिया वैसी है, जैसी दूसरी संसार संवंधी क्रियाएं है, यही नहीं, उसके पीछे मिथ्यात्व की दृष्टि होने से वह और गिराने वाली होती हैं। पाप को पाप समझ कर किया जाय तो चारित्र का ही नाश होता है, किन्तु जब धर्म समझ कर किया जाता है तो वह सम्यक्त्व का भी विघातक हो जाता है।

जब जीव पांचवें गुणस्थान को पार करके छठे गुणस्थान मे प्रवेश करता है तब उसकी समस्त सावद्य संसारिक क्रियाएं छूट जाती हैं और वह पूर्ण रूप से प्रत्याख्यानी हो जाता है। समस्त सावद्य क्रियाओ को त्यागे विना छठा गुणस्थान नही आता। छठे गुणस्थान मे यद्यपि निरवद्य क्रिया है, किन्तु उसमे भी प्रमादावस्था रहती है। निरवद्य क्रिया करता हुआ भी साधु कभी-कभी भूल कर

जाता है—स्खलित हो जाता है और कभी-कभी प्रमाद के कारण ऐसी भी क्रियाएं कर बैठता है, जिनसे उसके संयम में दोष लग जाता है। मगर प्रमाद की विद्यमानता के कारण संयमी पुरुष से भी भूल हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है समझ-बूझ कर भूल करना, धृष्टता करना और उस भूल को स्वीकार न करना, उसके लिए पश्चाताप न करना, प्रायश्चित न करना और उसे छिपाने का प्रयास करना।

छठे गुणस्थान का समय देशोन करोड़ पूर्व का है और पांचवे का भी इतना ही काल है। सातवें गुणस्थान मे ठहरने की ज्यादा गुंजाइश नहीं है। इसका काल अन्तर्मुहूर्त्त का ही है। इस गुणस्थान वाले संयमी का जीवन प्रमाद शेष न रहने से और भी मंज जाता है। उस समय जीवन बहुत उज्जवल हो जाता है। वह शरीर से तो कोई भूल नहीं करता, किन्तु कषायों और योगों की क्रिया का दौर चलता ही रहता है।

इसी प्रकार आठवें गुणस्थान में बादर लोभ निवृत्ति नहीं होती है और नवमे गुणस्थान में वह हट जाती है और आत्मा अत्यन्त निर्मल और हल्की होने लगती है। किन्तु थोड़ी सी भी अवशेष रही हुई लोभाग्नि वीतराग अवस्था उत्पन्न नहीं होने देती। दसवें गुणस्थान मे सूक्ष्म लोभ का चक्र चलता रहता है और ग्यारहवें गुणस्थान

वाला उस पर भी विजय प्राप्त कर लेता है। ग्यारहवाँ उपशान्तकषाय वीतराग गुणस्थान है । क्रोध, मान, माया और लोभ चारो मोहराज के चेले चांटे हैं । पंजाब मे एक कहावत प्रचलित है—"गुरू जिनां दे टप्पणे, चेले जान छड़प" इस का आशय है— जिनके गुरू जी नाचने-कूदने वाले हो, तो चेले भी वैसे ही तैयार होते हैं–सुर्र-फुर्र नाचने-कूदने वाले ! क्योकि जिसकी संगति में रहोगे, सामान्यतया वैसा ही असर आ जायगा।

एक ढोली या डूम किसी गाँव में रहता था। वह इधर-उधर की झूठ बोलता और उसी से अपना उदर-पोषण किया करता था। उसका एक लड़का था । ढोली ने सोचा कि मेरा लड़का भी मेरी ही तरह झूठ बोलने वाला न बन जाय; इस डर से उसने लड़के को उस के मामा के यहाँ भेज दिया। उसने विचार किया- यह गप्पें हांकने की आदत से बच जाएगा ! यद्यपि उसने अपने लड़के के विषय मे अच्छा ही सोचा था, मगर यह नही सोचा कि मैं लड़के को सुधारने के लिए जिसके पास भेज रहा हूँ, वह कैसा है, कौन-सा योगाभ्यासी है ! कहीं वह मेरे ही गुरुकुल का विद्यार्थी तो नहीं है !

साल-छह महीने बीत गये और लड़का अपने मामा के पास रहता रहा। तब ढोली डूम को उसे एक बार संभाल लेने का खयाल आया। वह वहाँ पहुँचा, जहाँ लड़का ट्रेनिंग ले रहा था–सुधर रहा

था ! उसने लड़के की परीक्षा लेने का विचार किया और देखना चाहा कि इस लड़के में इस अर्से मे कितना सुधार हो गया है। उसने लड़के को अपने पास बुलाया और बिठला कर कहा– देख बेटा, मैं तुझ से मिलने के लिए बड़ी मुश्किल से यहाँ तक आया हूँ; क्योकि रास्ते मे नदी मे बडे जोरो का पूर आ रहा था। उस नदी में पहाड़ गिर पड़ा तो मैंने उसे उठा कर एक ओर फैंक दिया। बड़ी मुश्किल से बच कर आया हूँ।

यह सुन कर लड़के ने समझ लिया कि पिता साफ झूठ बोल रहे हैं। इन्हें उत्तर भी इसी प्रकार का देना चाहिए। अतएव उसने कहा- पिता जी, आपने बड़ी बहादुरी का काम किया है। किन्तु ज्यो ही पिता की दृष्टि लड़के की धोती पर पड़ी तो उसने देखा कि धोती पर कीचड़ के छींटे पड़े हैं। उसने लडके से पूछा–अरे, यह छींटे धोती पर कहाँ से आए ? लड़का मुस्कराता हुआ कहने लगा वह पहाड़ जो नदी मे गिर पड़ा था न, उसी के यह छींटे उछल कर मेरी धोती पर आ गये हैं।

बेटे का उत्तर सुनकर बाप ने सोचा–यह अपने कुल के धर्म को नहीं छोड़ पाया है !

अभिप्राय यह है कि परम्परा जो पड़ जाती है, उसका छूटना बड़ा कठिन होता है। जो संस्कार जिस परिवार में या व्यक्ति के

जीवन मे घर कर जाते हैं, वे बड़ी ही कठिनाई से जाते है। सज्जनों ! आज अनेक प्रकार की कुरूढ़ियाँ आपके जीवन में भी प्रवेश कर गई है !

तो बात यह हुई कि जहाँ उस लड़के को भेजा गया था, वहाँ भी वैसी ही सोसाइटी थी। अगर वहाँ गप्पें मारने वालो और झूठी बातें बनाने वालो की संगति न होती तो कदाचित् वह लड़का वैसा न बनता और उस पर उस प्रकार की छाप भी न पड़ती। मगर जैसी उसे सगति मिली, वैसे ही संस्कार उसने ग्रहण कर लिये। मनुष्य जिस वातावरण मे रहता है, उसका उस पर असर पड़े बिना नहीं रहता है जैसा मोह-राजा है, वैसी ही उसकी प्रजा — क्रोध मान आदि—है। यह जीव सूक्ष्म लोभ रूप क्रिया को जब दबा देता है तब ग्यारहवें गुणस्थान मे पहुँचता है।

एक आग पहले धक-धक करती हुई मकान को जला रही थी। वह शान्त हो गई। यद्यपि धधकती हुई आग भी आग है और शान्त पड़ी हुई भी आग ही है, फिर भी दोनो अवस्थाओ मे फर्क तो पडा ही है। शान्त पडी–दबी हुई आग घर नहीं जला सकती। ग्यारहवे गुणस्थान मे सूक्ष्म लोभ की आग नष्ट नही होती, मगर दब जाती है। उसके दबने से भी आत्मा में एक अपूर्व निर्मलता उत्पन्न होती है।

बारहवाँ गुणस्थान और भी विशुद्ध है। साम्परायिक क्रिया का

समूल नाश हो जाता है। इस प्रकार ज्यों ज्यों जीव गुणस्थान-श्रेणी पर चढ़ता जाता है, त्यों-त्यों क्रियाएँ सूक्ष्म सूक्ष्मतर होती जाती हैं।

गुणस्थान आत्मिक उन्नति के सोपान हैं। पहले के सोपान को त्याग कर ही जीव आगे के सोपान पर पैर रख सकता है। यह नहीं हो सकता कि कोई पूर्व के गुणस्थान पर भी बना रहे और आगे के गुणस्थान पर भी आरूढ़ हो जाय। अतएव यह जीव पहले-पहले के गुणस्थानों को छोड़ता जाता है और आगे-आगे के गुणस्थानों पर आरोहण करता जाता है। अगर पहली ही पक्ति पर बैठे-बैठे माला फेरा करोगे, तप्पड़ घिसते रहोगे और आनुपूर्वी के पन्ने उलटते रहोगे तो फिर वहीं बैठे रहोगे! जिसे वहीं बैठा रहना है, वह बैठा रहे; उसकी मर्जी। किन्तु अगर वहीं नहीं बैठा रहना है और आगे जाना है तो पहली पक्ति को छोड़ना ही होगा।

प्रथम पक्ति का भी अपना मूल्य है, क्योंकि वही दूसरी पंक्ति पर पहुँचाती है। पहली कक्षा का भी आदर करना चाहिए, जिसके बिना B A M.A की उच्चतर उपाधि प्राप्त नहीं हो सकती। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कोई पहली कक्षा मे ही बैठा रहे। ऐसा करना कोई बुद्धिमत्ता की बात नहीं है। बुद्धिमत्ता आगे बढ़ने में है। कोई आगे बढे बिना और पहली कक्षा मे पड़े-पड़े ही उच्चकोटि की उपाधि प्राप्त करना चाहे तो वह स्वप्न में भी उच्च उपाधि प्राप्त

नहीं कर सकेगा। अतएव आगे बढ़ने के लिए पहली कक्षा छोड़नी ही पड़ेगी। उत्तरोत्तर वृद्धि के लिए—जीवन विकास के लिए पहली कक्षा की वर्णमाला की पुस्तक और पट्टी वगैरह का मोह छोड़ना ही पड़ेगा।

आध्यात्मिक विकास क्रम के लिए भी यही बात है। मनुष्य जब क्रमशः सीढ़ी पर सीढ़ी चढ़ता है तो उसे आगे-आगे चढ़ने के लिए पीछे-पीछे की सीढ़ियां छोड़नी पड़ती हैं।

जब आत्मा बारहवें गुणस्थान पर पहुँच गया तो ग्यारहवाँ गुणस्थान क्या बुरा हो गया ? नही, ग्यारहवें गुणस्थान की क्रिया भी अपने स्वरूप में अच्छी ही है, जो धधकती हुई आग के ज्वाला मुखी को शान्त कर देती है।

ग्यारहवें गुणस्थान में कषाय की अग्नि शान्त तो हो जाती है, परन्तु सर्वथा नष्ट नहीं होती। वह निमित्त पाकर फिर प्रज्वलित हो जाती है। जैसे राख से दबाई हुई अग्नि किसी समय वायु का झोंका आने पर और घास फूस का निमित्त मिलने पर फिर प्रज्वलित हो जाती है, उसी प्रकार कषायाग्नि भी उपशान्त हो कर पुनः भड़क उठती है। यह खतरा बारहवें गुणस्थान में दूर होता है। जब विशिष्ट प्रयत्न कर के, कषायो का क्षय करता हुआ बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाता है, तब वह खतरे से सर्वथा दूर हो जाता है। वहाँ मोह

नीय कर्म की सत्ता समूल नष्ट हो जाती है और मूल न रहने से फिर अंकुर के उत्पन्न होने की संभावना सदा के लिए दूर हो जाती है।

मोहनीय कर्म अत्यन्त प्रवल है। वही सब कर्मों का राजा है। जव उसकी सत्ता खत्म हो जाती है तो सभी कर्म ढीले पढ़ जाते हैं और आत्मा की शक्ति वहुत वढ जाती है विना राजा या सेनापति के, सेना कितनी देर ठहर सकती है ? वह अधिक समय तक समरांगरण मे नहीं जूझ सकती और भाग खड़ी होती है। इसी प्रकार मोहनीय कर्म का नाश होते ही शेष घनघातिया कर्म अन्तर्मुहूर्त्त मे ही नष्ट हो जाते हैं। वारहवें गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है। इस थोड़े से काल में ही आत्मा अपनी अभूतपूर्व शक्ति के द्वारा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों को नष्ट करते ही तेरहवें गुणस्थान मे जा पहुँचता है और उसमें केवल ज्ञान तथा केवलदर्शन की दिव्य ज्योति प्रस्फुटित हो जाती है। उस समय आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी एवं अनन्त शक्ति से सम्पन्न वन जाता है। उस समय अनन्त पॉवर वाला वल्व प्रकाशित हो जाता है।

सोने का मैल हट गया तो फिर कुन्दन ही कुन्दन रह गया। मक्खन मे छाछ की जो खटास थी, तपाने के वाद वह छाछ जल गई और शुद्ध घी रह गया। इसी प्रकार मिथ्यात्व, अज्ञान आदि-आदि विरोधी तत्त्व जव नष्ट हो जाते हैं तो आत्मा शुद्ध घी के सदृश हो

जाता है, कुन्दन के समान निर्मल बन जाता है। अगर आप मक्खन को बर्फ मे रख कर और बिजली के पखे की हवा देकर उस मे से छाछ निकालना चाहे तो वह निकलने वाली नहीं है। मक्खन मे से छाछ निकालने का यही सही उपाय है कि तपेली को आग पर रख कर गर्म किया जाय। ऐसा करने से छाछ-छाछ जल जाएगी और शुद्ध घी रह जाएगा। मगर पानी मे गोते लगवाने से तो मक्खन मे से छाछ निकल नही सकेगी!

इसी प्रकार आत्मा मे कर्म रूपी जो छाछ मिली हुई है, वह गंगा यमुना,सरस्वती या पुष्कर मे गोते लगाने से नहीं निकलेगी। मक्खन के उस गोले को तरल बनना पड़ेगा। उसे कठोरता का परित्याग करना होगा। फिर उस मे से फूट-फूट कर छाछ निकलेगी। अगर कोई चाहे कि तपेली को आंच न लगे और छाछ निकल जाय तो ऐसा करने वाला कोई माँ का पूत दुनिया मे पैदा नहीं हुआ।

अगर कोई तुझ से कहता है कि—बच्चा! फिक्र मत करो। गुरू का आर्शीवाद है कि तुम्हें तप किये बिना ही मोक्ष मिल जाएगा तो समझ लेना कि वह गलत विश्वास दिलाता है। झूठी तसल्ली दे रहा है। सचाई से वचित कर रहा है। वह सत्य का गला घोट रहा है। सच्चा गुरू तो यही कहेगा—बच्चा! तुम्हें अग्नि मे तपना पड़ेगा और सीता की तरह अग्नि परीक्षा देनी पड़ेगी। ऐसा करने से ही तेरा कलक-कलमष उतरेगा। सीता ने अग्नि परीक्षा से बचाव

किया होता तो क्या उसका कलक दूर हो सकता था? अग्नि ने मानो उसके कलंक को भस्म कर दिया और उसे शुद्ध बना दिया।

आत्मा की शुद्धि के लिए जिस आग की आवश्यकता है, वह है तपस्या। तपस्या ही आत्मा को निष्कलंक बनाने वाली है। किन्तु तपस्या वही फलवती होती है जो भावयुक्त हो। अगर उसमे अभिमान, आडम्बर या दिखावट, आत्म प्रदर्शन की दुर्गंध मिली हुई हो, तो उस से आत्मा का वास्तविक प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। तप मान और प्रतिष्ठा के लिए नहीं होना चाहिए। केवल कर्मों की निर्जरा के लिए ही तपश्चरण करना चाहिए। ऐसा तप ही आत्मा के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। वही आत्मशुद्धि करने वाला तप है।

हाँ, तो जब मक्खन पिघलेगा तभी छाछ नष्ट होगी और तभी शुद्ध घृत का स्वरूप प्रकट होगा। सज्जनों! शुद्ध घी का स्वाद ही कुछ और होता है। अगर थोड़ी-सी छाछ वाला भी घी दो दिन रह जाय तो उस मे दुर्गंध उत्पन्न हो जाती है। परन्तु जीव रूपी घृत में तो अनन्त काल से कर्म रूपी छाछ मिली हुई है। ऐसी स्थिति में उस की विकृति का क्या ठिकाना है! जितनी विकृति अधिक होगी, उतनी ही अधिक तपस्या करनी पड़ेगी।

सज्जनो! यह नर-देह पाकर—इस सर्वोत्कृष्ट चोले मे आकर इस शरीर को तप की भट्ठी पर चढ़ा दो और आत्मा रूपी मक्खन मे से कर्म रूपी छाछ को दूर कर दो। फिर देखना कि तुम्हारी आत्मा

का स्वरूप कितना पवित्र हो जाता है। तुम्हारे यश का सौरभ दिग्-दिगंत मे स्वतः प्रसृत हो जाएगा

तपस्या के प्रभाव से, मोह से सनी हुई क्रिया भी जब दूर हो जाती है तो केवलज्ञान- दर्शन की प्राप्ति हो जाती है। फिर भी थोड़ी सी कसर रह जाती है सिद्धगति की प्राप्ति मे।

मोहभावी क्रियाओ के निवृत्त हो जाने पर भी शरीर भावी सहज क्रियाएँ अवशिष्ट रह जाती हैं। मानसिक, वाचिक और कायिक शुभ क्रियाएँ वहाँ भी विद्यमान हैं, जिनका तेरहवें गुणस्थान मे रहना अनिवार्य है। इसे सयोगी केवली दशा कहते हैं। इस अवस्था को दूसरे शब्दो मे जीवनमुक्त अवस्था भी कहते हैं; जिसका अर्थ होता है—जीवित रहते हुए ही मुक्त दशा प्राप्त हो गई है।

मुक्त जीव दो प्रकार के होते हैं—जीवित मुक्त और विदेह मुक्त। विदेह मुक्ति से पहले जीवन मुक्ति होना अनिवार्य है। जो जीवन मुक्त नहीं होता, वह विदेह मुक्त भी नहीं हो सकता। जीवन मुक्त होकर ही अन्त मे विदेह मुक्त होता है।

अभिप्राय यह है कि क्रिया तेरहवें गुणस्थान तक चालू रहती है। तेरहवें गुणस्थान मे पहुँचे जीव की आयु अगर लम्बी हुई तो देशोन करोड़ पूर्व तक तेरहवें गुणस्थान में रहना पड़ता है। यद्यपि वहाँ जो क्रियाएँ होती हैं, वे मोह प्रेरित नहीं, अशुभ भी नहीं, फिर भी हानिकारक तो होती ही हैं। इन क्रियाओ से पिण्ड तब छूटता है

जब अयोगी अवस्था प्राप्त हो जाती है ।

मोक्ष में जाने पर भी ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग रूप क्रिया तो होती ही रहती है, पर वह आत्मभावी क्रिया है । वह क्रिया भी बंद हो जाय तो आत्मा मे जड़ता आ जाय, परन्तु ऐसा नहीं हो सकता । कभी हुआ नहीं और होगा भी नहीं ।

तो चौदहवाँ गुणस्थान अक्रिय है । वहाँ परिस्पन्दन रूप कोई क्रिया नहीं है । घड़ी तभी तक चलती है जब तक उसमें चाबी भरी रहती है । चाबी खत्म हुई कि सभी पुर्जे गति हीन हो जाते हैं । चौदहवें गुणस्थान में यद्यपि शरीर विद्यमान है, फिर भी योग रूपी चाबी खत्म होने से आत्मा की परिस्पन्दनात्मक समस्त क्रियाएँ बंद हो जाती हैं ।

जीव संसार में तभी तक रहता है जब तक क्रियाएँ हैं । जब तक क्रियाएँ विद्यमान हैं तभी तक जीव इधर है—संसार में है और ज्यो ही क्रिया से पृथक् हुए कि उधर हो गए अर्थात् मोक्ष में जा पहुँचे । फिर आत्मा और परमात्मा मे कोई अन्तर नहीं रह जाता ।

स्पष्ट शब्दो मे कहना चाहिए कि जैन मान्यता के अनुसार परमात्मा कोई रिजर्व वस्तु नहीं है । वह कोई अनादि सिद्ध एक व्यक्ति नहीं है । परमात्मपन एक पद है और उसे प्राप्त करने का अधिकारी प्रत्येक आत्मा है । अधिकार सब को है, पर योग्यता चाहिए । जिसने अपनी आत्मा को अलिप्त बना लिया, वही परमात्मा बन गया ।

जैन सिद्धांत खुली घोषणा करता है कि प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति विद्यमान है; परन्तु वह अपनी शक्ति को भूला हुआ है, दबाये बैठा है। जब वह साधना के पथ पर अग्रसर हो कर निज स्वरूप को प्राप्त कर लेगा, परमात्मा बनने मे क्षण भर भी विलम्ब नहीं लगेगा।

इसी प्रकार प्रथम गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक क्रियाओ की परम्परा जारी रहती है; मगर भाव सहित धर्मक्रिया करने से ही आत्मा का कल्याण होता है। इस प्रकार की क्रियाएँ करने से भी सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है और वह सम्यक्त्व क्रियारुचि सम्यक्त्व कहलाता है। वे क्रियाऐं यह है—

दंसणनाणचरित्ते, तव विणएसच्चसमिइगुत्तीसु।
जो किरियाभावरुई, सो खलु किरियारुई णाम॥
—उत्तराध्ययन, २८, २५.

सर्वप्रथम दर्शनक्रिया है। सम्यक्त्व पांच प्रकार का है। उसमे से किसी भी प्रकार के सम्यक्त्व को उत्पन्न करने वाली क्रिया दर्शनक्रिया कहलाती है। दर्शनपोषक क्रिया भी इसी के अन्तर्गत है।

दर्शनक्रिया दो प्रकार की है–निश्चय दर्शन क्रिया और व्यवहार दर्शन क्रिया। वीतराग देव द्वारा कथित नौ तत्त्व का हृदय मे रम जाना, घुल-मिल जाना और उन पर विश्वास हो जाना निश्चय दर्शन है और

पाँच अतिचारों से बचकर समकित का पालन करना व्यवहारसम्यग्दर्शन है। निश्चय सम्यक्त्व मे आत्मानुभूति की प्रधानता रहती है और व्यवहारसम्यक्त्व मे तत्त्वश्रद्धा की, निश्चय और व्यवहार—दोनो ही सम्यक्त्व आवश्यक हैं। यदि सूत ठीक होगा तो कपडा भी अच्छा बनेगा और आटा ठीक होगा तो रोटी भी ठीक बनेगी। मसाला-मैटर अच्छा होगा तो इमारत भी अच्छी बनेगी। इसी प्रकार व्यवहार-सम्यक्त्व शुद्ध होगा तो निश्चयसम्यक्त्व भी शुद्ध होगा।

सतियाँ तो अपने सतीत्व को सुरक्षित रखना चाहती हैं, किन्तु गुंडे लोग उनका सतीत्व नष्ट करने की फिकर मे रहते हैं। वे अनेक प्रकार के आकर्षण दिखलाते हैं, प्रलोभन देते हैं और धोखा देते हैं। किन्तु पतिव्रता सन्नारियाँ जौहर करके अपनी देह को और अपने प्यारे प्राणो को आग की लपलपाती हुई ज्वालाओं मे झोंक देती हैं; पर अपने अनमोल सतीत्व की रक्षा करती हैं। जिसके पास बड़ी-बड़ी शक्तियाँ थीं, उस रावण की कैद मे पड़ कर और तरह-तरह के प्रलोभन देने पर भी तथा प्राणान्तकारी भय दिखलाने पर भी सीता ने अपने सतीत्व का परित्याग नहीं किया। उसने खुले शब्दो मे कहा.—

लंका गढ मे सति वो
सीता क्या कह कर ललकारी,
प्राण जाय पर प्रण नहीं छोड़ूँ,

मै हूँ जनक दुलारी
भारत देश मे जी कैसी २ हो गई नारी

सीता को नंगी तलवार दिखलाई गई, फिर भी वह भयभीत न हुई। उसे न लोभ हुआ, और न ही क्षोभ हुआ। वह किसी भी प्रकार के दवाव मे नहीं आई। उसके पास सतीत्व का अद्‌भुत बल था। उस लोकोत्तर शक्ति ने उसे अजेय बना दिया था। अतएव उसने अभय भाव से कहा—रावण! जानते नहीं, मैं जनक की पुत्री हूँ। मै प्राण निछावर कर सकती हूँ अपने सतीत्व पर! संसार की समस्त दानवी शक्तियां एकत्र होकर भी मेरे सतीत्व को नहीं छीन सकतीं। तेरी स्थूल तलवार स्थूल शरीर का विनाश कर सकती है, किन्तु मेरे सतीत्व और आत्मा का नाश नहीं कर सकती।

इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि रूपी रावण ने आत्मा रूपी सीता को समकित रूपी पतिव्रत धर्म से डिगाने मे कसर नही रखी।

एक बदमाश गुंडा था। वह किसी बदमाशी के अपराध मे पकडा गया। जब वह राजा के पास ले जाया गया तो राजा ने उसे अपराधी समझ कर उसकी नाक कटवा ली और देश निर्वासन दण्ड दे दिया। गुंडा बहुत दुखी हुआ और बार-बार यही सोचने लगा कि राजा ने मेरी नाक कटवा ली। वह जिधर भी निकलता, लोग उधर ही 'आइए नकटे जी' कह कर उसका स्वागत करते। वह लज्जा के कारण अत्यन्त परेशान हो गया और बहुत ही शर्मिन्दा रहने लगा।

एक दिन उस गुंडे ने एकान्त में बैठ कर विचार किया— मैं किस-किस को उत्तर दूं और अपने अपमान के लिए किस-किस से झगड़ा करूँ ! यों जिंदगी कैसे गुजरेगी !

इस प्रकार सोचते-सोचते उसे एक उपाय सूझ गया। उसने उस पर तत्काल ही अमल भी कर डाला। उसने उसी समय साधु का रूप बना लिया। अब क्या था ? बाबा जी महाराज एक वट वृक्ष के नीचे चबूतरी के ऊपर, अपना आसन जमा कर, एक महान योगी की विभूति से सम्पन्न हो कर बैठ गये।

सज्जनों ! आज महान से महान जो पाप होते हैं, वे धर्म की ओट में या साधु वेष मे ९०प्रतिशत सफलता प्राप्त कर लेते हैं। मगर पाप कितना ही लुक छिप कर क्यों न किया जाए, आखिर प्रकट हो ही जाता है। अन्ततः पापी की कलई खुले बिना नहीं रहती। कई बाबा-जोगी साधु-वेष को लज्जित करते हुए रंगे हाथों हरिद्वार आदि तीर्थों में पकडे जाते हैं।

हां, तो वह नकटा भी साधु वेषी हो गया। वह अपने आप को महापुरुष कहलाने के दाव खेलने लगा। कोई-उससे पूछता कि—बाबा जी ! आपकी नाक कैसे कट गई ? तो वह प्रत्युत्तर मे—कहता— हो ! वाह ! और फिर ध्यान मे लीन हो जाने का ढोंग कर लेता था। कोई भक्त जम जाता और पिण्ड न छोड़ता और बार-बार पूछता, तो

वह उत्तर देता- अरे भाई ! यह नाक ही तो क्रोध, मान, माया और लोभ का मूल है । चौरासी के चक्कर मे घुमाने वाली और भवभ्रमण कराने वाली यही नाक है । मैंने इसे सभी अनर्थों की खान जान कर त्याग दिया है—काट कर फेंक दिया है । नाक कटते ही मेरी आत्मा पवित्र हो गई, हल्की हो गई, पापो से विमुक्त हो गई । फिर क्या था, मुझे ईश्वर के साक्षात् दर्शन होने लगे ।

सज्जनो ! बाबा का कहना ठीक है न ? लोग इस नाक के लिए रिशवत खिलाते हैं, झूठ बोलते हैं, बेईमानी करते हैं और इसे ऊँची रखने के लिए बड़ी-बड़ी बदमाशीयाँ करते हैं ।

बाबा कहता-लोग परमात्मा को खोजने के लिए तीर्थों मे भटकते फिरते हैं और न जाने कितने तीर्थों मे गोते लगाते हैं, तप, जप व्रतादि अनेक प्रकार के कष्ट उठाते हैं किन्तु परमात्मा भी नहीं मिल पाता है । मगर जब से मैंने नाक कटवा ली है, तब से मुझे परमात्मा का जो अपूर्व सौन्दर्य दृष्टिगोचर होने लगा है, वह पहले कभी नही हुआ था । तो इस निगोड़ी नाक को कटवाने से परमात्मा के दर्शन हो गये, समस्त पापो का नाश हो गया और मक्खियो के बैठने का अड्डा भी मिट गया ! इस प्रकार कह कर वह लोगो को भगवद्-गीता सुनाने लगा, तो कई बेचारे भोले प्राणी-लकीर के फ़कीर-नादान-काठ के उल्लु उसे पहुँचा हुआ, साक्षात् परमात्मा का अवतार समझने लगे और अपनी-अपनी नाक कटवा कर उसके चेले

बनने लगे। इस प्रकार नकटो की जमात बढने लगी।

सभी को परमात्मा का दर्शन करने की लालसा हो रही थी। इतनी सरलता से परमात्मा का साक्षात्कार हो सके तो भला कौन नहीं करना चाहेगा ?

अरे भले मानसो ! नाक कोई पहाड़ तो नहीं है जिसकी ओट मे परमात्मा छिपा पड़ा हो !

खैर, अब वह एक से कई व्यक्तियो का समूह बन गया और ताकत के साथ दुनिया में अलख जगाने लगा और कहने लगा—वाह रे इलाही नूर ! वाह रे अलौकिक प्रकाश ! अहा प्रभु की छटा ! अहा, सब पापों की मूल इस नासिका को कटाते ही समस्त पापपुंज कट जाता है और परमात्मा के दर्शन होने लगते हैं !

जो भी व्यक्ति भावुकता के वशीभूत होकर नाक कटवा लेता और नकटे गुरू जी का चेला बन जाता, उसे गुरू जी कान मे गुरु-मंत्र सुना देते थे—देख बच्चा ! तेरी नाक तो कट चुकी और वह वापिस आने वाली नहीं है। अतः परमात्मा के दर्शन न होने पर भी सब को यही मंत्र सुनाते रहना और पागल दुनिया से प्रतिष्ठा लूटते रहना और पैर पुजाते रहना।

प्रत्येक नया नकटा यह गुरुमंत्र सुनकर अपने सम्प्रदाय का प्रचार बढाने लगता और ठगाई करता रहता। इस प्रकार उस नकटे गुरू की जमात बढ़ने लगी। उसके ५०० चेले हो गये। सभी अपना

प्रभाव जमाने लगे। बड़े - बड़े लोग भी उनके महाप्रवचनो को सुन कर वैराग्यसागर में गोते लगाने लगे और अपने जीवन को धन्य मानने लगे। एक राजा भी उनके चंगुल मे फँस गया और वह भी अपनी नाक कटा कर परमात्मा के दर्शन करने के लिए लालायित हो उठा।

राजा ने अपने मंत्री को बुला कर कहा— मै अब बूढ़ा हो गया हूँ। मैने पाप भी बहुत किये हैं। बड़े भाग्योदय से नगर में एक नकटे महाराज पधारे है। मैने उनके वैराग्यमय वचन सुन कर निश्चय कर लिया है कि मैं भी इस पापिनी नासिका को कटवा कर ईश्वर का साक्षात्कार करूँ!

वजीर अक्लमद था और उन पाखंडियों के हथकंडो को बखूबी जानता था। उसे यह भी पता चल गया था— कि ये लोग किस प्रकार उल्लू बना कर दुनिया को ठग रहे हैं। अतएव उसने राजा से कहा— अन्नदाता! आप वृद्ध हैं, अनुभवी है, फिर भी नाक की ओट मे छिपे हुए परमात्मा का दर्शन करने के लिए उद्यत हो रहे हैं। मगर जरा विचार तो कीजिए कि परमात्मा क्या नाक – पहाड़ की ओट मे छिपने वाला है! आप उतावली न कीजिए! मै शीघ्र ही सत्य–असत्य का करिश्मा आपके सामने दिखाये देता हूँ।

वह वजीर राजा को साथ ले कर नकटो के अड्डे पर गया

और वहाँ का ठाठ देख कर दंग रह गया। उसने वहाँ जाते ही नकटे गुरू से प्रश्न किया— क्या आप ही इन सब नकटे चेलो के गुरू हैं ?

नकटेश्वर ने मार्दव का अवलम्बन ले कर कहा— हाँ बच्चा, ये मुझे ही अपना गुरू मानते हैं।

वज़ीर— आपको कष्ट न हो तो परमात्मा के दर्शन के विषय मे मैं एकान्त मे आप से कुछ पूछना चाहता हूँ।

गुरू— चलिए, चलिए ! मैं प्रसन्नतापूर्वक आप को सब कुछ बतलाऊँगा और आप चाहेगे तो आप को भी नकटा बना कर परमात्मदर्शन करा दूँगा।

वज़ीर उस नकटेश्वर को एक बंद कमरे मे ले गया। इशारे से चारो ओर पहरेदार खड़े कर दिये। कमरे में प्रवेश करते ही द्वार बंद कर दिया गया। फिर वज़ीर ने कठोर स्वर मे कहा— मैं जो कुछ पूछूँ, सच – सच उस का उत्तर देना, अन्यथा खैर नहीं है। अच्छा, यह बता कि तूने यह पेशा कब से अख्तियार किया है ? तू कैसे नकटा बना ? मै भली भाँति समझता हूँ कि नाक कटाने से परमात्मा का दर्शन नहीं हो सकता। अतएव झूठ बोलने से काम नहीं चलेगा।

गुरू जी के पैरो तले की जमीन खिसकने लगी। वह अपनी धूर्त्तता प्रकट करने में आनाकानी करने लगा। तब वजीर ने उसे खंभे से बाँध कर खाल उतरवा लेने की धमकी दी। इससे भयभीत

होकर उसने सारा इतिहास आद्योपान्त कह सुनाया—किस प्रकार अप-राध करने से उसकी नाक कटी, किस प्रकार चिढ़ाने के कारण वह साधु बना, आदि-आदि सभी बातें उसने स्पष्ट कह दी। अन्त में वह बोला— 'इस बार आप क्षमा कर दें। अब से आगे कभी मै इस प्रकार का प्रचार नहीं करूँगा। यहां से चला जाऊँगा। मेरी रक्षा कीजिए'।

सज्जनो! यह तो दृष्टान्त है। इसका अभिप्राय यह है कि जिनकी समकित रूपी नाक कट गई है और जो मिथ्यादृष्टि रूपी नकटे बन गये हैं; वे स्वयं तो नकटे बने सो बने ही, दूसरो को भी नकटा बना कर अपनी जमात वढाने के लिए व्यग्र रहते है और सब्ज बाग दिखला कर दूसरों को अपनी ओर आर्कषित करते है। वे कहते है— जप-तप आदि जड़क्रिया है। उससे आत्मा की विशुद्धि नही होती। केवल ज्ञानाभ्यास ही आत्मकल्याण का अमोघ साधन है। कोई कहते हैं— जप-तप करने से और शरीर को तपाने से ही कल्याण होगा; ज्ञान तो वृथा है! उससे कुछ भी फल की प्राप्ति नहीं होती!

इस प्रकार वे किसी भी एकान्त को पकड़ वैठते है और उसी का प्रचार करते हैं। वे मिथ्यात्वी अकसर कहते है— हमारी शरण में आ जाओ, हम परमात्मा का साक्षात्कार करा देंगे।

इस प्रकार मिथ्यात्वी अपनी संख्या बढा रहे है। कहावत प्रच-लित है कि शक्कर खोर को शक्कर और मक्कर वाले को मक्कर

मिल ही जाती है। किन्तु उस बुद्धिमान वजीर ने राजा को और दूसरो को भी नकटा होने से बचा लिया। राजा ने उसका उपकार माना।

याद रखना ब्यावर वालो! मिथ्यादृष्टियों के पीछे न लगना और उनकी तरह सम्यक्त्व खो कर मिथ्यादृष्टि मत बनना। वे स्वयं तो नकटे बने ही हैं, दूसरो को भी नकटा बनाने का प्रयत्न करते हैं। तो शास्त्रकार कहते हैं कि—दुनिया के लोगो! सावधान हो जाओ। जिन्होने नाक कटा ली है, उन की संगति भी करना हितकारक नहीं है; अर्थात जो मिथ्यात्वी है, जिन्होने सम्यक्त्व का वमन कर दिया है, उनके सम्पर्क से भी बचना चाहिए, क्योकि—

संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति।

अर्थात्— दोष और गुण संगति से होते हैं।

परमात्मा मिलेगा तो नाक रखने— सम्यक्त्व की रक्षा करने से ही मिलेगा। मैं पुकार - पुकार कर कहता हूँ कि अगर निश्चय-सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गई तो क्या कारण है कि परमात्मा न मिले! अजी, परमात्मा के मिलने का प्रश्न ही क्या है? तुम स्वयं परमात्मा बन सकते हो — बन जाओगे, मगर शर्त यही है कि सम्यक्त्व को निर्मल बनाये रक्खो।

सज्जनो! क्या हम नगे भूखे हैं? नहीं; हमारे भीतर अनन्त शक्तियाँ भरी पड़ी हैं। ज्ञान, दर्शन और चारित्र का अक्षय कोष भरा

है। मगर चाबी भूल कर कही रख दी गई है। वह चाबी हाथ लगी नही कि मोक्ष का अखूट खजाना हाथ आते देरी नही लगती।

आज दुनिया मे सम्यक्त्व से गिराने वाले बहुत है, जो अपने-अपने गिरोह बना कर जहाँ-तहाँ अड्डा जमाए हुए है और अनजान पथिको को ठगने मे कोई कसर शेष नहीं रखते। उन बेचारे पथिकों को बचाने वाले बहुत कम है। आप मिथ्यात्वियो से सावधान रहते हुए अपनी समकित रूपी धनराशि को सँभाल कर रखना! जो समकित की पूर्णरूपेण रक्षा करते है, वे इहलोक और परलोक मे पूर्ण सुख के भाजन बनते है।

ब्यावर
२०-६-५६

॥ ३ ॥

क्रिया-रुचि सम्यक्त्व

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः, सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराःपूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्त सुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

उपस्थित भव्यात्माओ !
शास्त्रों मे दस प्रकार के सम्यक्त्व का विधान किया गया है। उसी का निरूपण आजकल चल रहा है। उसमे से भी क्रिया रुचि सम्यक्त्व के विषय मे कतिपय बातें आपके समक्ष रक्खी गई है

जिन-जिन क्रियाओं के करने से-अनुष्ठान से सम्यक्त्व की पुष्टि हो, सम्यक्त्व फले-फूले और उसकी वृद्धि हो और जिसके प्रभाव से आत्मा मे सम्यक्त्व के गुण वृद्धिंगत होते चले जाएं, वह क्रियारुचि सम्यक्त्व है ।

मगर क्रिया में रुचि–आन्तरिक प्रीति– उत्पन्न हो जाना ही बड़ी बात है। विरले ही भव्य जीव सत्क्रिया में रुचि रखते है; क्यों कि धार्मिक क्रियाएँ साधारणतया शुष्क होती है। यद्यपि जिसे उनमे रस आ जाता है, उनके लिए तो वह सर्वोत्तम रस प्रद बन जाती है, मगर जो लोग बाह्य पदार्थो मे ही रस का अनुभव करते है, उन्हें वे नीरस प्रतीत होती हैं। इसमे आश्चर्य की कोई बात नही, क्योकि लोगो की अपनी-अपनी रुचि जो ठहरी ! इसके सिवाय धर्म क्रियाएँ करते समय मन को और इन्द्रियो को काबू मे करना पड़ता है। अत-एव धार्मिक क्रियाओ मे रुचि होना बहुत कठिन है।

हाँ, नाचने, कूदने, खेलने और स्वांग बनाने आदि में तो मनो-रंजन और इन्द्रियो की तृप्ति के साधन मिल जाते हैं; अतएव यह ससारी जीव ऐसी क्रियाओ मे सहज ही रसास्वादन करने लगता है। वास्तव मे निवृत्ति रूप क्रियाओ में रुचि करनी विरले ही व्यक्तियो का काम है।

तो दर्शनविषयक जो क्रियाएँ हैं, जिन से दर्शन की प्रभावना होती है, उन्हे स्वय भी करना चाहिए और दूसरों को भी ऐसी क्रियाओ मे लगाना चाहिए। यही आत्म–कल्याणकामी पुरुषो का कर्त्तव्य है।

आशय यह है कि दर्शनविषयक जो भी क्रियाएँ है, अथवा

जिन - जिन व्यापारों से दर्शन की प्रभावना होती है और स्वयं भी तथा दूसरो की भी दर्शन में प्रवृत्ति होती है , वह सब क्रियाएँ दर्शन क्रियाएँ है ।

इसके पश्चात् ज्ञान के विषय में जो क्रिया की जाए वह ज्ञान क्रिया कहलाती है । जिससे पदार्थों का बोध होता है , जो आत्मा का चेतना रूप गुण है , उसे ज्ञान कहते हैं । ज्ञान भी दो प्रकार का है— निश्चय और व्यवहार । जीवादि नौ तत्त्वों को तथा षट् द्रव्यों को , चार प्रमाणो और सात नयो द्वारा जानना, उनका आत्मप्रदेशो मे ओत प्रोत हो जाना , रम जाना निश्चय ज्ञान क्रिया है । आत्म प्रदेशो में तत्त्वो का ठीक रूप से प्रवेश हो जाना ही निश्चय ज्ञान क्रिया है । जीव जब जान लेता है कि यह जीव ही है , या अजीव ही है , तो वहाँ शंका का काम नहीं रहता । वहाँ तो दिव्य ज्योति जगमगा रही है । उस ज्योति से आत्मा का कल्याण ही होगा। यह एक असंदिग्ध बात है ।

निश्चय के पश्चात् व्यवहार ज्ञान का वर्णन करते हुए कहा है कि जितने भी शास्त्र उपलब्ध हैं—अंगसूत्र , उपांगसूत्र और धर्मग्रन्थ हैं , जो भगवान् की वाणी के अनुकूल हैं और यथार्थता से युक्त हैं , उनका पढ़ना व्यवहार ज्ञान है । चाहे भगवती और आचारांग सूत्र का रंग आत्मा पर चढ़ा है या नहीं , तथापि जिसने उन्हे सुना और

समझा है , उसके लिए व्यवहार में कहना पड़ेगा कि ये इतने सूत्रों के ज्ञाता हैं। अक्षरज्ञान व्यवहार ज्ञान है और आज उसी से हमारा काम चल रहा है। अतएव शास्त्रों का बाह्य रूप से जो अध्ययन करना - कराना है , वाचना , पृच्छना , पर्यटना , अनुप्रेक्षा , स्वाध्याय आदि करना है , वह सब व्यवहारज्ञान है।

निश्चय साध्य और व्यवहार उस का साधन है। जिसे व्यवहार ज्ञान प्राप्त है, उसे निश्चय ज्ञान की भी प्राप्ति हो सकती है। जिसे व्यवहार ज्ञान ही नही, उसे निश्चय ज्ञान भी प्राप्त नहीं हो सकता। मगर यह नियम नहीं है कि जहाँ व्यवहार ज्ञान है वहाँ निश्चय ज्ञान होना ही चाहिए। वह हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। परन्तु जहाँ निश्चय ज्ञान है वहाँ व्यवहार ज्ञान अवश्य होता है। इस प्रकार व्यवहार ज्ञान मे निश्चय ज्ञान की भजना है–वह हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता; मगर निश्चय ज्ञान मे तो व्यवहार ज्ञान समा ही जाता है।

सज्जनों ! हमे निश्चय ज्ञान की ओर अग्रसर होने का प्रयास करना चाहिए। निश्चय ज्ञान का आविर्भाव होने पर आत्मा में अलौकिक आलोक प्रकाशमान होने लगता है। यो तो ग्रंथ पढने वाले बहुत हैं, अर्थ-परमार्थ को भी वे जान लेते है, किन्तु अन्तरात्मा मे प्रकाश

न हुआ–आत्मतत्व का वोध न हुआ तो उससे क्या लाभ हुआ ? कुछ भी नहीं।

अभव्य जीव बहुत श्रुतज्ञान वाले भी हो जाते हैं, कुछ कम नौ पूर्वो तक के पाठी हो जाते हैं; किन्तु उन्हें इतना पढ़ लेने पर भी निश्चय ज्ञान नहीं होता। उनके आत्म प्रदेशो मे पदार्थो– तत्त्वो की ठीक रूप से परिणति नहीं होती। अतएव व्यवहार में इतने शास्त्रो; के ज्ञाता होने पर भी वे प्रथम गुणस्थान मे ही चक्कर काटते रहते हैं। इसका यही कारण है कि आत्मा ने उन तत्त्वो को सही रूप में जाना नहीं और माना नहीं है। कड़छी नाना प्रकार के व्यंजनो मे, खीर हलुवा, दाल, शाक आदि मे डुवकी लगाती रहती है, सव जीमने वालो को परोस देती है, किन्तु स्वयं कोरी की कोरी ही रह जाती है उसे किसी भी वस्तु के रस का आस्वाद नहीं आता, क्योकि वह जड़ है और जड़में रसास्वादन करने की शक्ति नहीं है। रसास्वादन तो चेतन का ही धर्म है। जड़ के सामने कितने ही फलो, फूलो मिठाइयो आदि के ढेर लगा दो, श्रद्धा पूर्वक भोग लगाने पर भी ठाकुर जी जीमने वाले नहीं हैं। हाँ, ठाकुर जी की ओट मे पुजारियो और पंडों के स्वार्थ की सिद्धि अवश्य हो जाती है। उन्हे सहज ही नाना प्रकार की भोग-सामग्री उपलब्ध हो जाती है।

जयपुर से आगे विहार करते हुए गये तो संध्या समय हो जाने

से हम एक ठाकुर द्वारे में ठहरे। जब ठाकुर जी को भोग लगाने का समय हुआ तो हम ने देखा कि पुजारी जी एक थाल मे मोटे-मोटे चार-पाँच रोट और कुछ शाक रखकर आए और मन्दिर के कपाट खोल कर ठाकुर जी के आगे रख फिर कपाट बंद कर दिये और बाहर आकर बैठ गये। हम बराबर देख रहे थे कि अब क्या-क्या कारवाई होने वाली है

थोड़ी भी देर नही हो पाई थी कि पुजारी जी ने पुनः पट खोले और थाल उठा लिया और ले जाकर अपने स्थान पर रख दिया। उसके बाद आप ही मजे के साथ भोग लिया वह ठाकुर जी का भोग। इस प्रकार स्वयं ने तो खाकर उदरपूर्त्ति कर ली और ठाकुर जी को घंटी बजा कर अगूठा दिखा दिया। अरे दुनिया के भोले लोगो ! जिस को भूख लगती है, वही खाद्य सामग्री खाता है, किन्तु भगवान् को तो भूख भी नहीं लगती और न वे वासना के ही भूखे है। जिसको घ्राणेन्द्रिय हो वह वासना ले सकता है। जिसको रसनेन्द्रिय हो वह भोग सामग्री खा सकता है। मगर वहाँ न तो घ्राणेन्द्रिय है और न रसनेन्द्रिय ही है।

मेरा आशय यह है कि कड़छी प्रत्येक चीज में घूमती है और दूसरों को नाना प्रकार के रस चखाती है, पर स्वयं कोरी की कोरी ही रहती है; इसी प्रकार अभव्य जीव, जिसको कभी भी मोक्ष मे

नहीं जाना है, जिसकी मिथ्यात्व की पोटली कभी खुलती नहीं है, जो पहली कक्षा से दूसरी कक्षा मे कभी जाने वाला नहीं है और जिसमे मोक्ष लब्धि प्रकट होने वाली नहीं है, वह भी कड़छी की तरह बाह्य ज्ञान प्राप्त कर लेता है, मगर मुक्ति के परम रस का आस्वादन नहीं कर सकता। जो जीव भव्यत्व लब्धि से सम्पन्न है, वही मोक्ष मे जाता है।

सज्जनों! उन अभव्य जीवो के लिए यह कितनी बड़ी समस्या है कि उन्हे कभी मोक्ष प्राप्ति होगी ही नहीं! प्रश्न हो सकता है कि आखिर उन्होंने ऐसे क्या कर्म किये हैं कि जिस से वे अभव्य हो गये! मगर उनका अभव्यत्व स्वाभाविक है। वह किसी कर्म के उदय से उत्पन्न नहीं हुआ है।

जयन्ती नाम की एक बड़ी जानकार श्राविका भगवान् महावीर के समय मे हो गई है। उसने एक बार भगवान् से प्रश्न किया—भगवन्! यह भव्यत्व - अभव्यत्व स्वाभाविक हैं या किसी कर्म के परिणाम से— नतीजे से बन गये हैं?

श्राविका का यह प्रश्न बड़े महत्त्व का है। मगर आज के लोग तो कोई प्रश्न ही नहीं करना जानते। पास मे पूंजी हो तभी व्यापार चलता है और स्वयं को कुछ ज्ञान हो तो उसके आधार पर प्रश्न

किया जा सकता है। और अक्षरज्ञान सीखने से ही आ सकता है। आज उसे सीखने की उत्कंठा किसे है?

हाँ, तो भगवान् ने जयन्ती के प्रश्न के उत्तर मे कहा—जयन्ती! यह भव्य- अभव्य का भेद स्वाभाविक है। यह किसी कर्म का फल नहीं है। भव्यत्व—अभव्यत्व किसी कर्म के उदय, उपशम या क्षयोपशम से उत्पन्न नही होता है। कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति ७० ,कोड़ा कोड़ी सागरोपम की है, उससे अधिक कोई कर्म नहीं ठहर सकता। किन्तु भव्यत्व और अभव्यत्व तो अनादि कालीन है। जो भव्य है उसके भव्यत्व की आदि नहीं है, पर जब वह जीव मोक्ष प्राप्त कर लेगा तब वह लब्धि समाप्त हो जाती है। अतएव मुक्त जीव तो भव्याभव्य कहलाता है। हाँ, अभव्यता अनादि होने के साथ अनन्त भी है।

तो आत्म प्रदेशों मे तत्त्वों का ठीक रूप से रम जाना निश्चय ज्ञान है और शास्त्र द्वारा पदार्थो का ज्ञान प्राप्त करना व्यवहार ज्ञान है। आज हमारी व्यवहारिक ज्ञान मे विशेष प्रवृत्ति है और निश्चय ज्ञान की ओर उपेक्षा दिखाई देती है। पर आत्मा के शाश्वत कल्याण के लिए तो निश्चय ज्ञान ही अपेक्षित है।

हाँ, तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन.पर्याय ज्ञान मे प्रवृत्ति होना ज्ञानक्रिया है इसी प्रकार चारित्र में प्रवृत्ति करना चारित्र क्रिया है

चरित्र भी दो प्रकार का है— निश्चय चरित्र और व्यवहार चरित्र। शुद्ध भाव से, आत्म निष्ठा से, अठारह पापो का त्याग करना निश्चय चरित्र है। जब यह चरित्र आता है तब पापो का विरोध हो जाता है; अन्यथा बाँध लगाने पर भी थोड़ा - थोड़ा पानी तो झरता ही रहता है। पाँच महाव्रतो, पाँच समितियों और तीन गुप्तियो का पालन करना, उन पर चलना और उन के लिए प्रयास करना व्यवहार चरित्र है।

व्यवहार मे आप हमें तभी संयमशील मानेगें जब कि हमारा चारित्र नियमानुकुल ठीक रूप मे होगा। कहते हैं, साधु अंतरंग मे शुद्ध भी क्यो न हो, यदि वह व्यवहार मे ठीक नहीं है तो वह विचारणीय चीज है।

व्यवहार बनाये रखना भी जरूरी है मैने अभी कुछ समय पूर्व मालवा प्रान्त के एक नगर की बात सुनी है। वहाँ एक ओसवाल भाई हैं। स्थानक वासी हैं उन्होने विनोबा भावे का सर्वोदय साहित्य पढ़ा तो उनकी भावना बदल गई। वे लखपति घर के हैं, एम. ए. परीक्षा उत्तीर्ण हैं, डाक्टर की पदवी प्राप्त है। लोग कहते हैं- वे सर्विस करें तो दो हजार मासिक पा सकते हैं। हाँ, तो वह साहित्य उनके मस्तिष्क मे घर कर गया। शहर के बाहर उन्होने और दूसरे कुछ लोगो ने जमीन ले ली है और वहीं खेती करते हैं, तेल

निकालते हैं और सात्त्विकता पूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

उस भाई ने घी खाना त्याग दिया है। वह कहते हैं— जब तक भारत के बच्चे बच्चे को घी नहीं मिलने लग जाता, तब तक मैं घी का सेवन नहीं करूँगा। उम्र अनुमानतः ३५-३६ वर्ष की होगी। इस उम्र मे इस प्रकार का सयम और ऐसी सादगी कठिनाई से ही आती है। उन की पत्नी पढी - लिखी है, और उन्ही के सांचे मे ढली है। उसे वह बहन के समान समझते है और ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। किन्तु इतना होने पर भी उन के पास उन के ही किसी रिशतेदार की १५-१६ वर्ष की एक लडकी है। वह भी उसी विचार धारा की है। उसे ले कर वे एक ही शय्या पर सोते है और एक ही चादर ओढते हैं। उनका कहना है कि वे अपने संयम के लिए, विकारों पर विजय प्राप्त करने के लिए अनुभव करने की दृष्टि से ऐसा करते हैं। मैं जहाँ तक उन्हे जान पाया हूँ उन का चरित्र ठीक है, विचार शुद्ध हैं और वे झूठ बोलने वाले व्यक्ति नहीं हैं; मै ने उन की आजमाइश की है। भरी जवानी मे उन्होंने अपनी पत्नी को बहिन का रूप दे दिया है, फिर भी एक षोडश वर्षीय नव युवती के साथ सो कर अपने आप को दृढ रखने की प्रैक्टिस करना एक लोक विरुद्ध कार्य है। हो सकता है कि अपनी मनोवृत्तियो पर पूर्ण नियंत्रण करके वे दृढ़ रह सकें, तथापि प्रवृत्ति व्यवहार से अनुचित है और उसका दुरुपयोग हो सकता है। उन के इस प्रकार के व्यवहार को

देख कर, उन के निकट रहने वाले लोग संतुष्ट और निःशंक हो सकते है, किन्तु जो उन के घनिष्ठ परिचय मे नहीं आये है, वे इस आचरण को यदि दुराचरण समझें तो उन्हे कैसे रोका जा सकता है ? वस्तुतः यह लोक निन्दनीय और अवांछनीय व्यवहार है। भगवान् ने ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए नौ बाढ़ें बतलाई है। यह व्यवहार उन से मेल नहीं खाता। घी का अग्नि के साथ मेल नही है। हमारे यहाँ के नीतिकार कहते हैं—

> घृतकुम्भ समा नारी, तप्तांगार समः पुमान्
> तस्माद् घृतञ्च वह्निञ्च नैकत्र स्थापयेद् बुध ः॥

अर्थात्—नारी घी के घड़े के समान है और पुरुष जलते अंगार के समान। दोनों के संयोग से विकार का उद्‌भव होता है। अतएव बुद्धिमान पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह दोनों को एक जगह न रक्खे।

कहने का अभिप्राय यह है कि कोई व्यक्ति अन्तर से कितना ही शुद्ध क्यों न हो, उसे अपना बाह्य व्यवहार भी ठीक रखना चाहिए और उचित लोक – मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। व्यवहार में जो कार्य निन्दनीय है, उस से बचते ही रहना चाहिए। उस का दूसरो पर बुरा असर पड़ सकता है।

औरों की बात जाने दीजिए। मनुष्य की तो हैसियत ही क्या है, पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञता प्राप्त कर लेने वाले केवली भगवान

भी लोक व्यवहार को भंग नहीं करते। वे भी रात्रि में विहार नहीं करते। शास्त्रो मे रात्रि मे विहार करने का जो निषेध है, उस का कारण यह कि अंधेरे मे जीव - जन्तु की रक्षा नहीं की जा सकती। संभव है कोई जीव पैर तले आ जाय और मर जाय! रात्रि में भोजन न करने का भी यही कारण है, क्योंकि इन आंखो से बारीक जन्तु नजर नहीं आते। मगर केवली भगवान् के लिए तो यह कारण लागू नहीं होते। उन की लोकोत्तर केवलदृष्टि से कुछ छिप नहीं सकता। वहां अंधेरे - उजेले का कुछ अन्तर नहीं है। वे असंख्य सूर्यो के प्रकाश की भी अपेक्षा अधिक प्रकाश से सम्पन्न हैं। उनके लिए दिन और रात समान है। फिर भी वे न रात में चलते है और न भोजन करते है। इसका कारण यही कि वे जानते थे कि यदि हम रात्रि में चलेंगे और खाएँगे और व्यवहार-विरुद्ध क्रिया करेंगे तो हमारी देखा-देखी, हमारे अनुगामी मुनि भी वैसा ही करने लगेंगे। इस प्रकार धर्म विरुद्ध परम्परा चल पड़ेगी और धर्म की जगह अधर्म हो जायेगा।

इस कारण शास्त्रकार कहते है कि हमे निश्चय और व्यवहार दोनो का अविरोध-रूप मे अनुसरण करना चाहिए। निश्चय मे निश्चय को और व्यवहार मे व्यवहार को लेकर आचरण करना ही समुचित मार्ग है। दोनो को एक कर देने से गड़बड़ होती है। अतएव व्यवहार का ध्यान रखना चाहिए। उदाहरणार्थ-कल्पना कीजिए

कि एक साधु शौच के लिए बाहर जंगल मे जा रहा है और उधर से ही एक साध्वी आ रही है या कोई बाई आ रही है। प्रासुक रास्ता बहुत संकीर्ण है और आजू-बाजू घास उगा है। वह साधु यद्यपि ब्रह्मचर्य में दृढ़ है और तपस्वी है और साधु उसी मार्ग से निकल जाय और साध्वी या बाई का स्पर्श हो जाय तो मन मे भी कोई दोष नहीं आने वाला है; फिर भी ज्ञानी जनो का कथन है कि—ऐ साधु अगर जाने के लिए कोई रास्ता नहीं है तो तुम कुछ समय के लिए हरियाली मे खड़े हो जाओ, पर उस बाई का स्पर्श मत होने दो। तुम्हारी हिंसा करने की भावना नहीं है, किन्तु लोक व्यवहार रखने के हेतु ही ऐसा कर रहे हो। उस हिंसा के पाप को प्रायश्चित करके अथवा तपस्या करके नष्ट कर दोगे, मगर बाई का स्पर्श होते अगर कोई देख लेगा तो वह खतरनाक बात होगी। उस दृश्य को देखकर वह कहेगा- कितना उन्मत्त साधु है ! बाई से अड़ता फिरता है ! इस लोकापवाद को तुम कैसे दूर करोगे ! लोकविरुद्ध आचरण करने से तो तुम्हारी इज्जत तीन कौड़ी की हो जायगी ! इससे शासन की भी अवहेलना होगी।

तो जिसके पास बैठने से, भोजन करने-पानी पीने से अपनी आन और शान मे फर्क आता हो, ऐसी व्यवहार विरुद्ध क्रिया नहीं करनी चाहिए।

श्रावक के लिए शास्त्र मे उल्लेख आता है कि वह शुद्ध विश्वास पात्र गृहस्थ के घर मे जाय, किन्तु अप्रीति कारक घर मे नही जाय मगर आज के लडके तो चाय और बिस्कुट वगैरह खाने के लिए होटलो मे जाना ही गौरव की बात समझते है। आज होटलों मे क्या क्या घटनाएँ होती है! वहाँ शराब, अंडे, मास और विषय-वासना की पूर्त्ति के सभी साधन सुलभ रहते है। कोई कह सकता है कि हम वहाँ निरामिष भोजन ही करेंगे, किन्तु भाई! वहाँ तो सारा ही मामला उलट पलट हो रहा है। इधर का प्याला उधर और उधर का इधर हो रहा है! ऐसी स्थिति मे उन वस्तुओ का सेवन होने मे भी देर नही लगेगी। अतएव जिससे व्यवहार बिगड़े वैसा कार्य नहीं करना चाहिए।

निश्चय मे तो ज्ञानी जानते है, पर हम सभी जानते है कि हम कितने पानी में है और हमारे भीतर साधुपन है भी या नही? आत्मा चेतन है और वह अपना कर्त्तव्य भली भाँति समझती है। किन्तु लोग तो हमारा व्यवहार देखते हैं कि महाराज कहाँ खड़े है, कहाँ गये है और किससे बातें करते हैं!

तो जब गृहस्थो को भी अपना व्यवहार सँभाल कर रखना पड़ता है तो हम तो गुरू कहलाते है। हमे अपना व्यवहार अवश्य ही शुद्ध रखना चाहिए। गृहस्थ के घर मे जाना और वहाँ घंटे-घंटे

भर बातें करना व्यवहार विरुद्ध है । साधु तो अपने स्थान पर-गद्दी पर ही शोभा पाता है । घर-घर जाकर बिना कारण दर्शन देते फिरना व्यवहार से उचित नहीं है !

ऐ साधू ! क्या तेरे पास दर्शन की बोरियाँ भरी पड़ी हैं जो दूसरो को बाँटता फिरता है ! अगर उन्हें तू नहीं झेल सकता तो किसी बैंक मे जमा करा दे ! तो यह सब चीजें विचारणीय हैं

मैं एक दिन जंगल जा रहा था तो एक दिन एक अजैन भाई मिले । वह कहने लगे- महाराज ! यहाँ जरा होशियारी से रहिएगा। यह ब्यावर है ।

मैं ने कहा-यह ब्यावर है तो मैं ब्यावर वालों का गुरू हूँ ।

वह सज्जन यह उत्तर सुन कर हँस पड़े ।

बस , अपना व्यवहार शुद्ध बनाये रखना चाहिए , फिर किसी की परवाह नहीं । सावधान रह कर जहां भी जाओगे , विजय प्राप्त करके आओगे । अपना घर ठीक है तो फिर कोई खतरा नहीं । फिर भी कोई निन्दा करता फिरे तो भले करता फिरे । उस के कहने का लोगो के दिलों में कोई महत्त्व न होगा ।

सज्जनो ! साधुपन मोती जैसा है । इसे खो देना सहज है , पर प्राप्त करना कठिन है । यह मोती पानीदार है , तभी तक इसकी

कदर है। जिस मोती का पानी उतर जाता है, उस का वह मूल्य नही रहता। कूप , सरोवर आदि जलाशयो मे पानी हो , मोती मे पानी हो , घड़े मे पानो हो और जीवन मे पानी हो, तभी उन की इज्जत होती है । जब पानी उतर जाता है तो उन की कोई वुकत नही रहती यो तो संसार मे गधे भी पेट भर लेते है , मगर ऐसे जीवन का कोई मूल्य नहीं है । ऐसो का संसार मे कोई गौरव नही है । ऐसी हालत मे भी समय तो गुजर जाता है किन्तु निरादरपूर्ण जीवन,जीवन नहीं है ।

अतएव मैं कह रहा था कि अपना व्यवहार शुद्ध रख कर प्रवृत्ति करना हो उचित है और तीर्थंकरों ने भी व्यवहार को साधा है तो हम व्यवहार को किस प्रकार छोड़ सकते है ? हम तो मुख्यतया व्यवहार के ही पथिक हैं

केवलियो के लिए निश्चय मार्ग प्रधान और व्यवहार मार्ग गौण है और हमारे लिए व्यवहार प्रधान और निश्चय गौण है । अतएव जिस स्थान पर जाने से व्यवहार बिगड़े, उससे दूर रहना चाहिए । फिर भी कोई मिथ्या लांछन लगाता है तो लगाने दो ! जो आसमान पर थूकता है, उसका सिर उसे झेलने को तैयार रहना चाहिए दूसरे का नंबर तो बाद में आ सकता है । अपने नियमो मे मजबूत हो तो फिर किसी का डर नही-परवाह नही होनी चाहिए । फूल को जहाँ भी ले जाओगे । वह सुगंध ही फैलाएगा । उसी प्रकार जिसका

जीवन सुसंस्कृत है, उसे कहीं कोई भय नहीं और जिसका व्यवहार बिगड़ा हुआ है, उसे हर जगह भय और टोटा ही टोटा है ।

तो निष्कर्ष यह है कि निश्चयचारित्र और व्यवहार चारित्र दोनों की आवश्यकता है । जीवन सम्बन्धी प्रत्येक व्यवहार विवेक के साथ करना व्यवहार चारित्र है और विवेक सिर्फ साधुओ मे नहीं, गृहस्थो मे भी चाहिए । मगर ब्यावर की कितनी वहिनो का ढंग ही निराला है । ये तो दूसरी तीसरे मजिल से ही जूठन का पानी नि संकोच भाव से नीचे फेंक देती हैं, फिर भले ही वह किसी भी आदमी के सिर पर ही क्यो न पड़े ! इस प्रकार का व्यवहार शिष्टाचारपूर्ण नहीं कहा जा सकता ।

जिस का व्यवहार शुद्ध नहीं है उस का निश्चय भी शुद्ध नहीं हो सकता। अतएव हमे सर्वप्रथम व्यवहार को शुद्ध बनाना चाहिए।

इसी प्रकार तपक्रिया भी समकित की बोधक और द्योतक है । मगर उस के पीछे धनैषणा, पुत्रैषणा, मानैषणा आदि-आदि न हो। अगर तपस्या के पीछे ये चीजें काम कर रही हैं तो वह तपस्या सच्ची नहीं है ।

तपक्रिया भी दो प्रकार की है-निश्चय और व्यवहार । निश्चय तप वह है जिसमे हृदय से—अन्तरंग से पदार्थो की आसक्ति त्याग दी जाती है। पर-पदार्थों के प्रति या पौद्गलिक वस्तुओ के प्रति अन्त-

रंग मे आसक्ति न होना , ममत्व न रहना भाव - तपक्रिया है । तप की परिभाषा करते हुए कहा है :—

इच्छा निरोधस्तपः ।

अपनी इच्छा, आशा, पिपासा , तमन्ना को रोक देना तप है । और पदार्थो मे आसक्ति का भाव रखना परिग्रह है । परिग्रह भी दो प्रकार का है—बाह्य और आभ्यन्तर । धन , धान्य , मकान, दुकान, स्त्री , पुत्र , आदि बाह्य परिग्रह है क्रोध , मान , माया , लोभ , राग , द्वेष आदि अंदर के भाव परिग्रह है । पदार्थो मे जो आसक्ति होना भाव परिग्रह है । जिसका आसक्ति भाव नष्ट हो गया है वही निष्परिग्रह कहलाता है। अगर कोई बाह्य परिग्रह को छोड़ कर जंगल मे चला भी गया , मगर आसक्ति न छूटी , तो समझ लीजिए कि वह निष्परिग्रह नहीं है । उस के हृदय मे आसक्ति की आग अब भी जल रही है और वह जल क्या रही है तुझे जला रही है , जला कर वह भस्म कर देगी । इस के विपरीत अगर किसी ने ममत्व का परित्याग कर दिया है, तो वह चाहे जंगल मे हो या महल मे, उसे कोई खतरा नहीं है और वह भावतपस्वी है ।

संसार मे जितने भी दु:ख हैं , सब भावपरिग्रह से—ममत्व भाव से - उत्पन्न होते है । अतएव भाव परिग्रह से छुटकारा पाना अत्यन्त ही आवश्यक है ।

जहाँ द्रव्य तप है वहाँ भाव तप हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। किन्तु भाव तप के विना आत्मा का सच्चा कल्याण नहीं होता। बेला, तेला, अठाई, मासखमण आदि अनशन, उनोदरी, भिक्षाचरी और रसपरित्याग आदि वाह्य तप हैं। दोनो ही प्रकार के तप आचरणीय हैं।

दवा रोगी को खिलाने से भी आराम पहुँचाती है और लगाने से भी आराम पहुँचाती है; किन्तु जो दवा खिलाने की है, वह खिलानी पड़ेगी और जो लगाने की है वह लगानी पड़ेगी। यह नहीं होगा कि खिलाने की दवा तो ऊपर लगा दी जाय और ऊपर लगाने की दवा खिला दी जाय। खाने की दवा लगा देने से तो विशेष हानि नहीं होगी, मगर लगाने की दवा अगर खिला दी तो लेने के देने पड़ जाएँगे। ऐसा करने से जीवन भी खतरे मे पड़ सकता है।

कोई कह सकता है— अजी, इस मे क्या हो गया! आखिर दवा तो सेवन करने के लिए है। उसे चाहे खा लिया जाय या लगा लिया जाय, बात तो एक ही है! मगर यह तर्क काम नही देगा।

तो इसी प्रकार व्यवहारतप की जगह व्यवहारतप और निश्चय तप की जगह निश्चय तप है। दोनो से अपनी-अपनी जगह काम लेना पड़ेगा, अन्यथा मामला और का और हो जाएगा। ठीक उसी प्रकार जैसे दवा के उलटने - पलटने से मामला बिगड़ जाता है।

एक बुढ़िया के चार बेटे थे। बुढ़िया बीमार हो गई। लड़के थे बड़े आज्ञाकारी और माता की सेवा करने वाले, परन्तु मन्दबुद्धि थे। वे डाक्टर के पास गये और डाक्टर से कहने लगे — डाक्टर साहिब! हमारी बुढ़िया माता बीमार है और हम दवा लेने आये है।

डाक्टर न उन से बुढ़िया की कैफियत पूछी और फिर शीशी में दवा दे दी। साथ ही उस ने कहा— देखो, खूब हिला कर दवा देना। अगर एक खुराक से फायदा न हो तो दूसरी खुराक भी हिला कर दे देना। बस तीन खुराक काफी। इन से फायदा हो जाएगा।

चारो लड़के दवा की शीशी ले कर घर आये। बुढ़िया दर्द की मारी जोर-जोर से टसके मार रही थी। उन्होंने सोचा – माता जी को पहली खुराक में ही फायदा हो जाना चाहिए। वे चारो उस के पास बैठ गये और कहने लगे—डाक्टर की दवा जल्दी दे दें और डाक्टर ने जैसी विधि बतलाई है, उसी के अनुसार दें तो ही लाभ होगा।

इस प्रकार चारो ने एक मत हो कर बुढ़िया के हाथ पैर पकड़ लिये और चारो ने मिल कर बुढ़िया को खूब हिलाना शुरू किया। बुढ़िया की हड्डी-हड्डी ढीली पड़ गई और वह सिसकने लगी। इस के बाद उसे दवा की पहली खुराक दे कर सुला दिया।

बुढ़िया बीमारी के कारण कमजोर तो पहले ही हो चुकी थी,

हिलाने के कारण वह और अधिक शिथिल पड़ गई। उसके अंग अंग मे वेदना हो रही थी। अतएव वह और भी धीरे-धीरे टसकने लगी मूर्ख लड़को ने समझा— यह सब डाक्टर के कहे अनुसार खूब हिला कर दवा देने का ही प्रभाव है कि माता जी को पहले की अपेक्षा अब कुछ शान्ति है !

सज्जनों ! मूर्खों को समझाना और उन का समझना बड़ा कठिन काम है। एक सेठ ने अपने नौकर से कहा— देख , एक पैसे का नमक और एक पैसे की चीनी ले आना।

सेठ ने नौकर को दो पैसे दे दिये—एक, एक हाथ मे और दूसरा दूसरे हाथ में। नौकर जाने लगा तो सेठ ने उसे चेतावनी दी—देख, कहीं दोनो मिल न जाएँ।

नौकर ने कहा— मोटो हुकम !

नौकर दोनो पैसे अलग-अलग हाथ में लिये जा रहा था। मगर कुछ कारण ऐसा उपस्थित हुआ कि दोनो पैसे शामिल हो गए। दोनो का भरत - मिलाप हो गया तो नौकर बहुत घबराया और सोचने लगा— यह तो बड़ा गजब हो गया। सेठ जी ने कहा था— दोनो को अलग-अलग रखना ; पर यह तो दोनों पैसे मिल गये ! अब सेठ जी की आज्ञा के विरुद्ध चीनी और नमक कैसे लाऊँ ! और यह भी तो याद नहीं रहा कि किस पैसे का नमक आना है और किस पैसे की चीनी लानी है !

आखिर वह सौदा लिये बिना ही घर लौट आया। सेठ ने उस से पूछा— ले आया दोनों चीजे ?

नौकर ने कहा— जी, नही लाया।

सेठ— क्यो ?

नौकर— आपने कहा था– दोनो को अलग - अलग ही रखना, मिलने न देना। मगर भूल हो गई और दोनो पैसे मिल गये। तब आपका हुकम याद आया। लाचार हो कर मुझे वापिस लौटना पड़ा। सौदा नहीं ला सका।

सेठ— अरे मर्ख ! मेरा मतलब यह थोड़े ही था कि पैसे न मिल जाएँ। मैंने तो चीनी और नमक न मिला देने के लिए चेताया था।

मगर नौकर में इतनी समझ नही थी कि वह सेठजी के आशय को सही रूप मे समझ सकता। उन का अभिप्राय यह था कि नमक और चीनी का अगर सम्मिश्रण हो गया तो दोनो ही किसी काम के नहीं रहेगे।

सेठ समझ गया कि नौकर मूर्ख है !

मै भी तुम्हे कह रहा हूँ कि तुम सम्यक्त्व और मिथ्यात्व को एक न कर देना-मिला मत देना ! फिर भी अगर कोई गपड़सपड़ कर दे तो इसमे मेरा क्या उत्तरदायित्व है ?

हाँ, जब उस बुढ़िया का स्वर धीमा पड़ गया वे चारों समझे कि माँ अब अच्छी हो रही है और उसे शान्ति मिल रही है। उन्होंने उसे दूसरी खुराक देने का विचार किया, ताकि वह पूर्ण रूप से नीरोग हो जाय। उन्होने सोचा-दवा देनी है तो डाक्टर के बतलाये अनुसार ही देनी चाहिए। बस, यह सोच कर उन्होंने अन्तिम सांस लेती हुई-मरती हुई बुढिया को फिर पकड़ा और हिलाना शुरू किया। हिला - डुला कर उसे दूसरी खुराक भी दे दी। परिणाम यह हुआ कि वृद्धा उस श्रम को सहन न कर सकी। उस के प्राण - पखेरू उड़ गये।

मर जाने के पश्चात् बुढ़िया की समस्त क्रियाएँ बंद हो गई। लड़कों ने समझा— अब मां जी को नींद आ गई है। उन्हे क्या पता था कि बुढ़िया सदैव के लिए महानिद्रा की गोद में समा गई है। वह सोई तो ऐसी सोई कि फिर जगाने की जरूरत ही न रही। वह न हिलती है, न डुलती है— निस्तब्ध पड़ी है!

जब काफी समय हो गया तो लड़को को संदेह हुआ। वे सोचने लगे—मामला क्या है! अब तो माता जी सांस भी नहीं ले रही हैं! ठीक तरह देख भाल की तो पता चला कि माँ जी हमे अकेला छोड़ कर चल बसीं! अब कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह गया है! तब उन्हो ने कहा— साला डाक्टर बड़ा दुष्ट है। उस ने न जाने कैसी दवा दे दी!

चारो लड़के डाक्टर के पास पहुँचे और कहने लगे— डाक्टर साहिब ! आप ने कैसी दवा दे दी ? माँ तो दूसरी खुराक देते ही चल बसी !

डाक्टर— दवा तो हिला कर दी थी न !

लड़के— हाँ साहिब! जैसा आप ने कहा था , वैसा ही हम ने किया। हम चारों ने दोनो हाथ और दोनों पैर पकड़ कर खूब हिलाये और उस के बाद दवा दी ! फिर भी माँ तो चल बसी !

डाक्टर ने माथा ठोक कर कहा— अरे मूर्खो ! मैं ने बुढिया को हिलाने के लिए कब कहा था ! मैंने तो दवा को हिलाने के लिए कहा था।

लड़के कुछ ऐंठ कर बोले— तो आपने पहले सारी बात खोल कर क्यों नहीं कह दी !

डाक्टर— मैंने तो स्पष्ट ही कहा था, मगर तुम लोग कुछ का कुछ समझ गये ! इस में मेरा क्या अपराध है !

वास्तव में डाक्टर ने तो दवा हिलाने को ही कहा था। उन के स्थान पर कोई भी समझदार होता तो वह दवा हिलाने की ही बात समझता। ऐसी स्थिति में बेचारे डाक्टर का क्या दोष ! यह तो उन लड़को की ही मूर्खता का दुष्परिणाम हुआ कि बुढ़िया को प्राणों से हाथ धोने पड़े ! लोक में कहावत है– " दाना दुश्मन भी भला , पर नादान दोस्त भला नहीं। " सचमुच समझदार बुद्धिमान शत्रु से भी

उतनी हानि नहीं हो सकती, जितनी वेसमझ, नादान, निरक्षर महाचार्य मित्र से होती है। मूर्ख मित्र शत्रु से भी अधिक भयंकर सिद्ध होता है।

एक बंदर राजा का पहरेदार था। वह राजा का शुभचिन्तक था। राजा के पास बैठ जाता और उस की पूरी रक्षा करता था। एक समय दिन मे राजा सो रहा था और बन्दर पास में बैठा - बैठा राजा की मक्खियाँ उड़ा रहा था। राजा को नींद आ गई तो वह और अधिक सतर्कता के साथ अपनी ड्यटी अदा करने लगा।

एक मक्खी बार - बार राजा के ऊपर आकर बैठती थी और बार - बार वह उड़ा दिया करता था। मगर मक्खी अपनी आदत से लाचार थी। वह बार-बार आती और फिर उसी जगह बैठ जाती! बन्दर उसे उड़ाते - उड़ाते हैरान हो गया। तब उस ने मक्खी से कहा— तुम कितनी ढीठ और बेहया हो कि बार - बार भगाने पर भी नहीं मानती और फिर यहीं आ कर बैठ जाती हो! व्यर्थ मेरे मालिक को हैरान कर रही हो! सावधान, अगर अब फिर बैठी तो मजा चखा दूँगा!

सज्जनो! मक्खी मे समझने की शक्ति नहीं होती कि वह मना करने से मान जाय। अतएव वह अपने स्वभाव के अनुसार पुनः आ कर राजा की छाती पर बैठ गई।

अब उस मूर्ख बन्दर के क्रोध का पार न रहा। उस ने सोचा यह यो मानने वाली नहीं है। इसे मजा चखाना ही पड़ेगा। वह खूंटी पर टँगी हुई तलवार उठा लाया। ज्यो ही मक्खी बैठी कि बन्दर ने उस पर तलवार का प्रहार किया। प्रहार करते ही मक्खी उड़ गई और साथ ही राजा के दो टुकड़े हो गये और मर गया।

यद्यपि बन्दर ने राजा का भला ही सोचा था, मगर अपनी मूर्खता के कारण उसे ऐसा सुला दिया कि फिर कभी जागने का सु-अवसर ही प्राप्त न हो।

तो इसी प्रकार जिस गुरू के चेले-चांटे मूर्ख होते हैं, या भक्त गण मूर्ख होते है, वे अपनी समझ मे तो गुरू की मान-प्रतिष्ठा करते हैं, गुरू की शान बढ़ाने के लिए प्रयत्न करते है, मगर मूर्खता के कारण उन के वे कार्य ऐसे सिद्ध होते है कि जमी प्रतिष्ठा को भी भंग कर देते हैं।

तात्पर्य यह है कि ऐसे अविवेकशील मित्र अथवा हितैषी भी किस काम के ? ऐसे हितैषियों से समझदार शत्रु कथंचित् अच्छा है, जो समय पर अपने शत्रु को भी बचा लेता है।

एक सेठ ने किसी गांव मे हजारों रुपयों का माल बेचा। वह उन रुपयों की मोहरें ले कर और अपनी जांघ में सी कर अपने गांव जा रहा था। उसे भय था कि कही कोई चोर मिल गया तो उस की सम्पत्ति छीन लेगा। इसी से उस ने ऐसा इन्तजाम किया था। जब

वह रास्ते में जा रहा था तो उसे एक ठग दिखाई दिया ! वह भले आदमी के वेष मे था । सेठ ने उसे देख कर सोचा– चलो , एक से दो हो गये! भय कम हो गया । फिर उस ने पूछा–भाई, क्या तुम भी मेरे साथ चल रहे हो ?

ठग ने कहा– हाँ , मुझे भी उसी गांव जाना है ।

ठग जानता था कि यह सेठ है और इस के पास अवश्य धन होना चाहिए । इसी कारण वह उस के साथ - साथ चल पड़ा । वह मौका देख कर धन छीनने की फिकर मे था ।

दोनों आगे बढ़े तो क्या देखते हैं कि उसी रास्ते पर चार-पांच आदमी , जो वास्तव मे चोर थे , बैठे हुए हैं । जब वे दोनो उन के निकट पहुँचे तो उन्हों ने रोक कर कहा– तुम्हारे पास जो भी धन - माल हो , हमारे हवाले कर दो , अन्यथा प्राणो से हाथ धोने पड़ेंगे।

चोरो ने दोनो की तलाशी ली , मगर उन के पास कुछ नहीं निकला । किन्तु इसी समय दरख्त पर बैठा हुआ कौवा कांव - कांव करने लगा । चोर पक्षी की बोली समझते थे , अतः उन्होंने सोचा – कौवा बोलता है , इन के पास अवश्य धन होना चाहिए ! उन्हो ने दूसरी बार फिर तलाशी ली , मगर कुछ भी हाथ न लगा । कौवा फिर कांव-कांव शब्द कर के मानो समर्थन करने लगा कि इनके पास धन है !

चोरों को विश्वास हो गया कि इन के पास धन है मगर हमारे

हाथ नहीं लग रहा है। अतएव उन्होने कहा— तुम्हारे पास धन है, मगर तुम बतला नही रहे हो। याद रखना, हम तुम्हारे शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर के धन निकाल लेंगे।

यह धमकी सुन कर सेठ का साथी ठग सोचने लगा — मैं धन के लिए ही इसके साथ लगा, और मैं भी इसका शत्रु हूँ; मगर इस समय हम दोनो एक ही नाव में बैठे हैं। दोनो को ही मरना पड़ेगा। यद्यपि मैं स्वयः चोर हूँ, मगर इन चोरों को पता नहीं कि मैं भी इनका भाई—बंद ही हूँ। ये मुझ से अपरिचित है और समझ-ते हैं कि मै भी मुसाफिर हूँ।

चोर ने फिर सोचा—यदि मै पहले अपने शरीर की बोटी-बोटी कटवा कर साबित कर दू कि मेरे पास माल नहीं है, तो इन्हे इत्मी-नान हो जायगा कि जब एक के पास कुछ नहीं निकला तो दूसरे के पास भी कुछ नहीं होगा। इस प्रकार यह सेठ बच जायगा। और यदि इन्होने पहले सेठ की चीर-फाड़ की तो फिर मुझे भी अवश्य काटेंगे ! दोनो को मरना पड़ेगा।

यह सोच कर ठग सेठ के आगे खड़ा हो गया और चोरों से बोला—लो, पहले मुझे काट कर देख लो और तसल्ली कर लो कि हमारे पास माल है या नहीं।

चोर अत्यन्त नृशंस और निर्दय थे। उनके दिल में दया नहीं

थी। उन्होंने उस ठग को काटा। पर माल न मिला। तब उन्हें विश्वास हो गया कि कौवा यों ही कांव-कांव कर रहा था! अब दूसरे की जान लेने से क्या पल्ले पड़ने वाला है! यह सोच कर उन्होंने सेठ को छोड़ दिया।

सज्जनों! वह ठग सेठ का शत्रु था, मगर समझदार था। अतएव उसने अपने प्राण गँवा कर भी सेठ के प्राण बचा लिये। इसीलिये कहा कि समझदार शत्रु भी अच्छा है, किन्तु बेसमझ भक्त भी और मित्र भी खोटा होता है!

कहने का मेरा आशय यह है कि प्रत्येक विषय में बुद्धिमत्ता की आवश्यकता होती है। बुद्धिमत्ता इसी में है कि हम निश्चय और व्यवहार—दोनों को साथ लेकर चलें। दोनो ही अपनी-अपनी जगह उपयोगी और लाभदायक हैं।

तो जो दवा खाने की है वह खाने के काम आएगी और जो लगाने की है वह लगाने के ही काम आएगी, इसी प्रकार बाह्य तप और आन्तरिक तप की अपनी – अपनी पृथक् – पृथक् उपयोगिता है। दोनो ही तप अपने अपने ढंग से कर्म शोषक हैं।

अन्तरंग में पदार्थों की आसक्ति का त्याग कर देना आभ्यन्तर तप है और उपवास, बेला, तेला, अठाई आदि करना बाह्य तप है।

बाह्य् तपस्या से भी कर्मों का नाश होता है, किन्तु शर्त यही है कि उस के पीछे किसी भी प्रकार की लोकैषणा नहीं होनी चाहिए। बाह्य् तप केवल आत्मशुद्धि-कर्मनिर्जरा- के लिए ही होना चाहिए।

कोई भी क्रिया क्यो न हो, उस के पीछे सही उद्देश्य होना चाहिए और वह समझ के साथ की जानी चाहिए। तभी वह सुख रूप होती है। अगर वह क्रिया विना सही उद्देश्य और बिना समझ के की जाती है तो दुःख रूप हो जाती है। दवा दुखद नहीं थी, किन्तु बुढ़िया को हिलाने वालो की गलती थी अगर लड़के बुढ़िया को हिलाने के बदले दवा को हिलाते तो बुढ़िया को आराम हो सकता था मगर उन्हों ने दवा को हिलाने के बदले बुढ़िया को हिला दिया तो उसे मौत के मुख में जाना पड़ा।

इसी प्रकार बाह्य् तप भी आचरणीय है और उपादेय है। किन्तु उस का आचरण द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तथा शक्ति-सामर्थ्य को देख कर ही करना उचित है। इस प्रकार जो तप किया जायगा, वह लाभप्रद ही होगा। हाँ, सामर्थ्य न होने पर भी अगर तपस्या का भार उठा लिया तो उसे बीच ही में छोड़ने की नौबत आ सकती है। अतएव चाहे तपस्या हो, चाहे दूसरा कार्य, आरम्भ करने से पहले सव बातो का विचार कर लेना चाहिए। ऐसा करने से पश्चा-ताप नहीं करना पड़ता।

तप. क्रिया के पश्चात् शास्त्रकार ने विनय क्रिया के विषय मे फर्माया है । आचार्य , उपाध्याय , गणी , स्थविर , तपस्वी , वृद्ध तथा नवदीक्षित साधु का विनय करना भी तप में परिगणित किया गया है ।

किसी बहिन ने वेला-तेला कर लिया और सासू की चोटी पकड़ कर खींची या गालियाँ दीं और दिल दुखाया तो तप का फल रंग नहीं दिखलाएगा । तपस्या करके भी जो बेटा अपने बाप को कलपाता है, याद रखना, उसकी अठाई कोई महत्त्व नहीं रखती । अतएव जो रोगी है, वृद्ध है, उसका मान करना, सत्कार करना और उस की आत्मा को शान्ति पहुंचाने वाली अन्यान्य प्रवृत्तियां करना भी एक प्रकार की तपस्या है और जैन शास्त्रो मे उसे विनय तप का सुन्दर नाम प्रदान किया गया है ।

विनय-तप कौन कर सकता है ? जिसने मानचंद जी का मान॰ मर्दन किया हो अर्थात् अहंकार पर विजय प्राप्त की हो, वही विनयतप कर सकता है । जिसमे अहंकार है, जो अभिमान के कारण उन्मत्त हो रहा है, वह विनय नहीं कर सकता ।

विनय करने की क्रिया के प्रति रुचि होना विनयक्रिया रुचि सम्यक्त्व है ।

आज आप ज्ञान के प्रति उपेक्षा रखते हैं । आप के यहाँ ज्ञान की कोई विषेश कद्र नहीं है । अगर दाम देकर आप को ज्ञान

सुनना पड़ता तो आप ज्ञान की कद्र करते और तभी आप को पता चलता कि ज्ञान का क्या मूल्य है ! पर आप को मुफत सुनने को मिलता है, इसी कारण आप ज्ञान की उपेक्षा करते हैं ।

आज आप लोगो को श्रुतज्ञान के प्रति कितनी उपेक्षा है, कितनी उदासीनता है, मैं कह नहीं सकता । आपका जीवन ध्येय ही यह बन गया है कि कमा लिया, खा लिया, पी लिया और आओ मेरी हाट मे न देऊँ तेरी टाट मे !

आज ज्ञान के नाम पर आप के पास कितनी पूजी है ? प्राकृत और संस्कृत भाषा आप समझते नही । अगर शुद्ध हिन्दी मे साहित्य हो तो उसे ही पढ सकते हो । मगर उस ओर भी आपका ध्यान नही है । आपका धन तो मुकदमे वाजी मे, शादी-विवाह मे और मकान-दुकान बनाने मे ही खर्च होता है । दो-चार हजार मिठाई जिमाने मे खर्च कर दोगे, चाहे वाद मे कुड़की ही क्यो न आ जाय !

याद रक्खो, जहाँ श्रुतज्ञान का विकास होता है, श्रुतसेवा होती है, ज्ञान की उन्नति होती है, वहाँ ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है । मगर जिन ग्रन्थो से दूसरो को भी ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है, आप उन से भी किनारा काटने की कोशिश करते हैं । यदि मालूम हो जाय कि अमुक दुकान पर अच्छा माल फायदे से मिलता है तो आप व्याख्यान से उठ कर बिना भोजन किये ही पहले वहां जा धमकें गे, ताकि माल खतम न हो जाय और आप कहीं लाभ से वचित न

हो जाएँ। महाजन ऐसे काम में बहुत होशियार होता है। पर जिस साहित्य को पढ कर गिरते हुए, पथ से भ्रष्ट होते हुए लोग बच जाएँ, उस साहित्य की तरफ आप की अभिरुचि नहीं होती!

स्मरण रखना चाहिए कि - सन्तसमागम होता है, व्याख्यान सुनाया जाता है, दूसरी तरफ कदम बढाने वालों को स्थिर भी कर दिया जाता है, किन्तु उनके चले जाने के बाद यदि कोई उन पथ विचलित होने वालो को सँभालने वाला है तो वह एक मात्र साहित्य ही हो सकता है, जो यथार्थ श्रद्धान का पोषक हो।

कभी - कभी अकस्मात् ही वक्ता के मस्तिष्क मे ऐसे अपूर्व विचार उत्पन्न हो जाते हैं और उद्‌गार के रूप में ठाठे मारते हुए निकल पड़ते हैं कि समय बीतने पर वे स्वयं वक्ता को भी याद नहीं रहते। ऐसी स्थिति मे बेचारे श्रोता तो सदा स्मरण रख ही कैसे सकते हैं! किन्तु वह उद्‌गार अगर लिपिबद्ध होकर ग्रन्थो का रूप धारण कर लेते हैं, तो वह हजारों वर्षो तक और दूर - दूर देशान्तरो में भी ज्यो के त्यो कायम रह सकते हैं। उस साहित्य से हजारों - लाखों व्यक्ति लाभ उठा सकते हैं।

सज्जनो! आप के करने योग्य जो क्रियाएँ हैं, वह तो आप-को ही करनी होगी। उन क्रियाओं में किसी प्रकार की बाधक भावना लाना धर्म के विकास मे बाधा डालना है।

मैं स्पष्ट रूप से कहूँगा कि आपका पड़ोसी समाज-मूर्त्ति-पूजक जैन समाज-साहित्य के सृजन में गहरा रस लेता है। साहित्य निर्माण के लिए वे लाख लाख रुपया दे देते हैं। मै इस चीज को खूब अच्छी तरह समझ रहा हूँ कि यदि हमारे समाज की यही दशा रही तो हमारा समाज साहित्य से वंचित रह जायगा, और जिस का साहित्य नहीं है वह धर्म कभी भी जिंदा नही रह सकता। जिस दुकानदार के वही खाते ही खत्म हो गए, उसका लेन-देन ही समाप्त हो गया। आप लोग वहियो को वहुत सँभाल कर रखते हैं, क्योंकि उनमें रकम का उल्लेख होता है। किन्तु सज्जनों! आपकी रकम उत्तम है या भगवान् के परम कल्याणकारी वचन उत्तम हैं? भगवान् के वचनों की तुलना मे आपकी रकम तुच्छ है, नगण्य है। भगवान् के वचन अर्थ रूप हैं, आपकी रकम अनर्थ रूप है। अतएव जिनवाणी का आदर करो, कद्र करो और वैसा कदम उठाओ जिससे हजारों को लाभ मिले; क्योंकि मेरे मस्तिष्क से निकले हुए वचन फिर मेरे वश के भी नहीं हैं। इसलिए इन विचारों को सँभाल कर रक्खो। दूसरी फिजूलखर्चियो से बच कर आपको अपने विचोर इस ओर केन्द्रित करने चाहिएं।

मैं ने संकेत कर दिया है। आप गांठ बांध लें कि मुझे कोई गर्ज नहीं। जो कुछ भी कह रहा हूँ, आप लोगो के उपकार के लिए ही कहता हूँ। याद रखना, एक-एक मोती को सँभाल कर रक्खोगे

तो न जाने कब काम आएगा ! समय पर वह बहुत उपयोगी सिद्ध होगा ! भगवान् के वचन रामबाण औषध हैं; अतएव बुद्धिमान् पुरुष साहित्य का निर्माण और रक्षण करें। प्रत्येक भाषा मे और प्रत्येक के पास आपकी संस्कृति पहुँचनी चाहिए, जिससे जैनेतर भी जैन की एन बेन और सेन को जान सकें, पहचान सकें और उस पर श्रद्धा लाकर अमल कर सकें और अन्त मे लौकिक एवं लोकोत्तर कल्याण भी कर सकें।

बहुतो को यह ख्याल हो गया है कि जैनियो के पास कोई साहित्य ही नहीं है। अतएव आप लोगों को अपनी प्रारंभ की हुई चीज का ध्यान होना चाहिए। किसी भी उत्तम कार्य को जब प्रारंभ कर दिया हो तो बीच में छोड़ बैठना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता। कहा है—

आरभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति ।

अर्थात् उत्तम पुरुष किसी कार्य को आरम्भ करके सैकड़ों विघ्न आने पर भी नहीं त्यागते।

ऐसा करने में ही बुद्धिमत्ता है। अतएव आपको श्रुत की वृद्धि के प्रयत्न में सहायक बनना चाहिए। इस से आप के ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होगा। जो ज्ञान की वृद्धि मे अभिरुचि रखते हैं, वे

मोक्ष के अधिकारी होते हैं। जो भव्य जन ज्ञानक्रिया द्वारा सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं, वे संसार - समुद्र से तिर जाते हैं।

ब्यावर
२१-९-५६

॥ ४ ॥

सम्यक्त्व के अन्य भेद

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः, सिद्धाश्चसिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराःपूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्त सुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङगलम् ॥

उपस्थित सुज्ञ आत्माओ ! कल क्रियारुचि सम्यक्त्व का वर्णन किया गया था। जो-जो क्रियाएँ मोक्षदात्री हैं, मोक्षप्राप्ति में सहयोग देने वाली हैं, जिन के द्वारा आत्मा का विकास हो सकता है और कर्मों का अन्त हो सकता है, इस प्रकार की जो भी धार्मिक क्रियाएँ हैं, उन में रुचि होना और उनके अनुष्ठान की अभिलाषा होना क्रिया रुचि सम्यक्त्व है।

जिस प्रकार भूखे को भोजन की और प्यासे को पानी पीने की

अभिलाषा होती है— अभिरुचि होती है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुष को धर्म क्रिया के विषय मे आन्तरिक रुचि होती है। उस की गति, मति और विचारधारा - सब कुछ धर्म की ओर ही होती है। तो शास्त्र का विधान है कि धार्मिक क्रियाओ मे उल्लास होना, प्रसन्नता होना, और लग्न होना भाव क्रिया रुचि सम्यक्त्व है।

इस के पश्चात् शास्त्रकारो ने संक्षेप रुचि सम्यक्त्व का वर्णन करते हुए कहा है— भगवान् द्वारा प्ररूपित श्रुत विशाल है, अथाह सागर के समान है। उसे समझने मे जो विशारद नही हैं, पण्डित नहीं हैं, जो उसे विस्तारपूर्वक जान नहीं सकते, उस के भेद-प्रभेदो को समझने मे जिनकी बुद्धि समर्थ नही है, जिन्हे श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम विशेष रूप से प्राप्त नहीं है या जिन्हे साधन उपलब्ध नही हुए है जिन के द्वारा बोध प्राप्त कर के वे पडित बन सकते थे; अतएव जो जिन वाणी मे पाण्डित्य नही प्राप्त कर सका है, फिर भी भद्रपरिणामी है, लघुकर्मा है, श्रद्धालु है, अतएव जिसने किसी झूठे मार्ग को ग्रहण नही किया है, खोटी मान्यता को नही अपनाया है; वह संक्षेप मे ही जिनवचन को समझ कर सम्यक्त्व धारण करता है। वह भगवान् के वचनो पर अटल रह कर अपना कल्याण कर सकता है।

दृष्टियां दो हैं— सुदृष्टि और कुदृष्टि। सम्यक्त्वी जीव सुदृष्टि वाला होता है और मिथ्यात्वी तथा मिश्रपंथी कुदृष्टिवान् होते हैं। उस सक्षेप रुचि वाले की दृष्टि सुदृष्टि है और उसने यह अवश्य

समझ लिया है कि सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में श्रद्धा रखनी ही चाहिए। वीतराग के वचन सत्य ही हैं, क्योंकि—

नान्यथा वादिनो जिनाः।

अर्थात्– जिन अन्यथावादी हो ही नहीं सकते।

इस प्रकार वीतराग की वाणी पर उस को पूर्ण विश्वास होता है। सज्जनो! मनुष्य के लिए दो ही मार्ग हैं— या तो वह इतनी योग्यता प्राप्त करे कि सत्य - असत्य का निर्णय करने में समर्थ हो; और यदि इतनी योग्यता प्राप्त न कर सके तो फिर उसके लिए सीधा-सा मार्ग यही है कि जिन्होंने उस सत्य मार्ग का आचरण किया है और संदेश दिया है, उस पर विश्वास रक्खे।

रोगी को सब औषधियों का ज्ञान नहीं होता और वह सब के गुण भी नहीं जानता है। उसे उन का मोल - तोल बनाने का विधि-विधान भी ज्ञात नहीं होता। मगर उसे औषध और वैद्य पर विश्वास होता है कि वैद्य जो भी दवा देगा, वह मेरे लिए गुणकारक ही होगी।

इसी प्रकार जिस आत्मा ने क्षयोपशम की अल्पता के कारण पदार्थों को भलीभांति नहीं जान पाया है, किन्तु उसे महापुरुषों पर और प्रवचन पर विश्वास है तो उस की वह श्रद्धा संक्षेप रुचि कहलाती है।

सज्जनों ! दवा चाहे थोड़ी मात्रा मे ही हो , पर शक्तिशाली होनी चाहिए , उस में रोग को नष्ट करने की क्षमता चाहिए। इस के विपरीत , अगर दवा परिमाण मे बहुत है , मगर रोग- निवारण का सामर्थ्य उस में नहीं है तो वह व्यर्थ ही साबित होगी, इसी प्रकार किसी आत्मा को थोड़ी सी भी जानकारी क्यों न हो , किन्तु यदि वह श्रद्धापूर्वक है , तो उस से भी मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है। यह संक्षेप रुचि सम्यक्त्व की बात हुई।

संक्षेप रुचि सम्यक्त्व के पश्चात् धर्म रुचि सम्यक्त्व का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते है— धर्म के विषय में रुचि होना, उत्साह होना धर्मरुचि सम्यक्त्व है।

यहाँ धर्म शब्द संग्रहनय की अपेक्षा समझना चाहिए। जो धर्म जिनोपदिष्ट हो , जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कथित हो, उसके प्रति अभि-रुचि होनी चाहिए ।

जीतने वाले को जिन कहते है , अर्थात् जिसने राग - द्वेष को जीत लिया है , समस्त आत्मिक विकारो का संमर्दन कर डाला है , उसे जिन कहते हैं। ऐसे जिन अर्थात् वीतराग द्वारा कथित धर्म का ही अनुसरण करना चाहिए , उसी का कथन करना चाहिए और उसी को संसार के सामने रखना चाहिए।

सज्जनों ! बड़ी ही जिम्मेवारी का काम है। आज तो यह

हालत है कि प्रत्येक मनचला मन माने धर्म की दुकान फैलाने को तैयार हो जाता है। हर कोई नया मत का अविष्कार कर लेता है। मगर यह साधारण बात नहीं है, बड़ा मुश्किल काम है। वस्तुतः जिसने धर्म की अन्तरात्मा को जाना है, पहचाना है और परखा है, उसी को धर्म का निरूपण करने का अधिकार प्राप्त होता है। मगर आज की इस निरंकुश दुनिया मे तो कामी, क्रोधी, लोभी, लालची हठाग्रही, मताग्रही लोग भी धर्म के नाम पर सम्प्रदाय खड़ा कर लेते हैं और महापुरुषो द्वारा बतलाई हुई बातो को झूठा और अपनी कपोल कल्पित बातो को सत्य सिद्ध करने का दुस्साहस करते हैं। जब उसको उधर अर्थात् सत्य मार्ग मे दाल नहीं गली और दुकान नहीं चली तो उसने अलग दुकान खड़ी कर ली। इस प्रकार ससार में मत-मतान्तर बढ़ते चले जा रहे हैं।

अभिप्राय यह है कि प्रत्येक को धर्मप्रवर्त्तक बनने का अधिकार नही है। फिर भी आज कोई अणुव्रत के प्रवर्त्तक बन बैठे हैं तो कोई किसी अन्य मत के। मै पूछता हूँ कि उन्होंने अपने दिमाग के किस कोने से अणुव्रतो का आविष्कार किया है कि जिससे वे अपने को उन का प्रवर्त्तक कहते हैं। अणुव्रत और महाव्रत के प्रवर्त्तक तो तीर्थंकर भगवान् ही हो सकते है। वह भी जब केवली हो जाते हैं तभी धर्मोपदेश देते है और तभी वे धर्मप्रवर्त्तक कहलाते हैं। यो तो धर्म अनादि, अनन्त है, शाश्वत है, नित्य है। धर्म सदा काल स्थायी है, ध्रुव है। इधर-उधर होने वाला नहीं है।

जमीन पर रहने वाले तो परिवर्त्तित हो सकते हैं, किन्तु जमीन नहीं बदलने वाली है। यद्यपि कइयो ने ऐसी भी कल्पना कर डाली है कि पहले न जमीन थी, न आसमान था। जो प्रलय को स्वीकार करते है और अधेरी कोठरी में बैठ कर ही निर्णय करने वाले है, वे कहते हैं कि किसी समय जगत् शून्य रूप मे था—पृथ्वी और आकाश कुछ भी नही था। केवल पानी ही पानी था !

सज्जनो ! जरा विचार तो करो कि पानी या तो जमीन पर रहता है या आसमान मे रहता है। जमीन से उड़ कर आसमान मे चला जाता है और फिर आसमान से जमीन पर गिर पड़ता है। मगर जिसके मत मे न जमीन थी और न आसमान था; उसके मत मे वह पानी कहाँ रहा होगा ? मनुष्य पाजामा सिलवाता है तो उस मे भी लघुशंकानिवृत्ति के लिए स्थान रखता है ! इसी प्रकार अपने सिद्धान्त की रचना करने में भी जो विरोध या आपत्तियाँ आती है; उनका तो कम से कम समाधान करना ही चाहिए था। उनका खुलासा तो कर देना उचित था। ताकि उनके सिद्धान्त का इतनी सरलता से खंडन नही होता। मगर हठाग्रह के आवेश मे इतनी सूझ-बूझ भी नहीं रह जाती। हठाग्रही इसी धुन मे रहता है कि मैं कितनी जल्दी प्रत्येक को अपने सिद्धान्त का अनुयायी बना लूँ !

मगर सावधान ! तू जो जाल फैला रहा है, उसमें पक्षी फँसेंगे

या नहीं; कौन जानता है! मगर तू तो अपने जाल मे अर्थात् मिथ्यात्व मे फँस ही जायेगा !

तो जो यह कहते हैं कि पहले पृथ्वी और आसमान का अस्तित्व नहीं था, उनकी कल्पना मिथ्या है। दोनो ही थे और दोनो ही रहेगे। ये कभी नष्ट होने वाले नहीं हैं। इसी प्रकार धर्म ध्रुव है, नित्य है और वह सदैव स्थायी है। जिस दिन धर्म का अभाव हो जायगा, उसी दिन जगत् का ही अभाव हो जायगा। उस दिन न धर्म सुनने वाले रहेगे और न धर्म सुनाने वाले ही रहेंगे। आज जो जड़-चेतन रूप विश्व विद्यमान है, वह केवल धर्म के ही आधार पर विद्यमान है। धर्म के बिना धर्मी नहीं रह सकता। धर्म का अस्तित्व धर्मी पर और धर्मी का अस्तित्व धर्म पर निर्भर है। अग्नि का अस्तित्व तभी तक है, जब तक कि उसका धर्म उस के साथ है।

धर्म का अर्थ है— स्वभाव या गुण। कहा भी है—

वस्तु स्वभावो धर्मः।

अर्थात्— वस्तु का अपना स्वभाव ही धर्म है।

अग्नि तभी तक अग्नि कहलाती है, जब तक उस मे जलाने का तत्त्व विद्यमान है। जिस मे प्रकाश और दाहकता गुण नहीं, वह अग्नि नहीं कहला सकती। भोजन जो मनुष्य के जीवन - रक्षण का

सर्वोत्तम साधन है, किन्तु वह भी तब ही तैयार हो सकता है जब अग्नि में खाद्य पदार्थ पकाने का गुण-धर्म है।

इसी प्रकार जल का धर्म शीतलता प्रदान करना है। जल को कितना ही गर्म क्यों न किया जाय और शकल क्यो न बदल दी जाय, किन्तु उसका गुण फिर भी नही जाता है। उस मे विकृति आ जाने पर भी उसका धर्म उससे जुदा नही होता है। गर्म-गर्म पानी को भी अगर आग पर डाला जाय तो वह आग को बुझा देगा। दूसरी वस्तु के सम्मिश्रण से उस में विकृति अवश्य आ गई, मगर उस का स्वभाव कही नहीं गया है।

इसी प्रकार मै कह रहा हूँ कि धर्म कभी नष्ट नही हो सकता और धर्म के बिना विश्व का अस्तित्व नहीं टिक सकता। धर्म और धर्मी का तादात्म्य संबंध है। दोनो एक दूसरे के आधार पर ही कायम हैं।

हाँ, तो धर्म का स्वरूप समझ लेने पर धर्मरुचि समकित आती है और इस के आने पर जीव धर्म की ओर अभिमुख होता है।

धर्म क्या है? धर्म शब्द 'धृ' धातु से निष्पन्न हुआ है। अर्थात जो विश्व को अपने कंधो पर लिये हुए है, सँभाले है और उस का अस्तित्व बनाये हुए है, उस शक्ति को धर्म कहते हैं। यह महापुरुषो

का निश्चय है, धर्म शब्द सामान्यतया एक है, पर उस के अर्थ अनेक हैं। धर्म शब्द छहों द्रव्यों मे व्यापक है। प्रत्येक मे अपना - अपना धर्म मौजूद है। शास्त्र मे "अत्यिकायधम्मो" शब्द आया है ; अर्थात् धर्म , अधर्म , आकाश आदि अस्तिकाय धर्म हैं । इस प्रकार धर्मा॰ स्तिकाय आदि जो द्रव्य हैं , उन को भी धर्म ने ग्रहण कर लिया है। ये भी धर्म के विना नही रह सकते । धर्मास्तिकाय चलने मे सहायता देता है , अधर्मास्तिकाय ठहरने मे सहायक होता है और आकाशास्तिकाय का काम जीव को जगह देना है। काल द्रव्य नयी वस्तु को पुरानी वनाता है। जीव का धर्म चेतना है। पुद्गल द्रव्य का धर्म पर्याय रूप से सड़ जाना , गल जाना और विध्वस्त हो जाना है। आज जो सुगधमय पदार्थ हैं , वे दुर्गंधमय वन जाते हैं और जो दुर्गंध मय हैं वे सुगंधयुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार अस्तिकाय में छहो द्रव्य आ जाते हैं !

यह धर्म तो केवल जानने योग्य है। इस का ज्ञान और बोध होना चाहिए , जिस से ठीक - ठीक स्थिति का पता चल जाय।

एक सूत्रधर्म भी होता है। सूत्र अनेक प्रकार के होते हैं— अंगसूत्र , अगवाह्यसूत्र , मूलसूत्र और छेदसूत्र आदि। जो भी धर्म का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र हैं , उन का नाम चाहे वेद हो , पुराण हो , कुरान हो , अजील हो या कुछ और हो, अगर वे शुद्ध धर्मतत्त्व का प्ररूपण करते हैं तो मान्य ही हैं , अन्यथा नहीं । हमे नाम से

प्रयोजन नहीं , गुण से मतलब है । दवा का नाम कुछ भी हो उसमें रोगोन्मूलन का गुण होना चाहिए । तभी वह औषध निःसंकोच भाव से ग्राह्य है। वह औषध किसी के पास भी क्यों न हो और कही भी क्यो न हो , हमे उस का गुण देखना चाहिए । हमे वैद्य या औषध के नाम - ठाम से क्या लेना - देना है , अपना रोग मिटाना है ।

भद्र पुरुषो ! हम तो गुण के उपासक है, दुर्गुणों के नहीं । बाजार मे अच्छे से अच्छे और बुरे से बुरे पदार्थ भरे पड़े हैं । हम उन में से अच्छे पदार्थ के ग्राहक है । बुरे भले पड़े रहे, हमें उनसे मतलब नहीं ज्ञानी पुरुष कहते है कि जिसके पास दाम अधिक होगें, वह अच्छा और ऊँची 'क्वालिटी' का माल खरीदेगा ।

तो शास्त्र के मर्म को जान लेना—हृदय मे स्थापित कर लेना सूत्र धर्म है। श्रुत भी धर्म का पोषक है । इससे धर्म की उत्तरोत्तर उन्नति होती है । मगर आज मनुष्य की शास्त्रज्ञान के प्रति उपेक्षा-वृत्ति है। किन्तु जितना-जितना श्रुतज्ञान बढ़ता है, उतनी-उतनी ही आत्मा विकसित होती जाती है । अतएव श्रुतज्ञान आत्म-विकास का प्रधान कारण है और शास्त्रो का पढ़ना-पढ़ाना और प्रभावना करना श्रुतधर्म है ।

श्रुतधर्म को जान लेने के पश्चात् चारित्रधर्म की बारी आती

है। जब तुमने मिठाईयो के नाम जान लिये तो उन्हें खाने की इच्छा होती है। जो कुछ हमने जाना, सुना और पढा है, इसमे से जो उपा-देय है, आचरणीय है, उसे आचरण में लाना चारित्रधर्म है।

श्रुतज्ञान हो जाने मात्र से आत्मा का कल्याण नहीं होता। मार्ग जान लेने से ही मजिल पर नहीं पहुँचा जा सकता। पहुँचने के लिए तो उस मार्ग पर चलना पड़ेगा। 'चयं रित्तं करेइन्ति चरित्तं' अर्थात् जो भरे हुए को खाली करता है, उसे चारित्र कहते हैं। आत्मा मे कर्मों का जो मैल भरा पड़ा है, उसे खाली कर देने वाला चारित्र है। इसमें तपस्या आदि कर्म विध्वंसकारी सभी क्रियाओं का समावेश हो जाता है। आते हुए कर्मों को रोक देना और पूर्वबद्ध कर्मों को क्षीण करना दोनो चारित्र हैं। इस प्रकार चारित्र दो प्रकार का कार्य करता है। आत्मा कर्मों से भरी पड़ी है, उसको वह खाली कर देता है—तपस्या रूप चारित्र से पूर्वकृत कर्म नष्ट होते हैं और और प्रत्याख्यान रूप चारित्र से नवीन आने वाले कर्मों की रुकावट होती है।

जो पुरुष नवीन कर्ज लेता नहीं और पुराने कर्ज को चुका देता है, वही सुखी होता है। उससे कोई तकाजा करने वाला नहीं रहता। इसी प्रकार संवर रूप चारित्र से जब नूतन कर्मों का आगमन रोक दिया जाता है और निर्जरा रूप चारित्र से पुरातन कर्मों का क्षय किया जाता है, तभी आत्मा कर्म के ऋण से सर्वथा मुक्त होता है।

चारित्र के दो भेद हैं— देशविरति चारित्र और सर्वविरति चारित्र। देशविरति चारित्र श्रावक को होता है क्योंकि श्रावक आंशिक रूप से ही चारित्र को अंगीकार करता है; किन्तु सर्वविरति चारित्र मुनियों को ही होता है। उन का मार्ग सर्व चारित्र का मार्ग है— वे अहिंसा आदि व्रतों का तीन करण तीन योग से पालन करते हैं। सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात चारित्र संयमधन तपस्वियो को ही प्राप्त होते हैं। साधु ही इनका पालन करते हैं।

इन पाँच प्रकार के चारित्रो मे से सामायिक चारित्र क्या है? आईए, थोड़ा विचार करें।

जिस समय कोई व्यक्ति संसार संबंधी मोह- ममता का त्याग कर के, वैराग्यदशा प्राप्त करता है और सामायिक अर्थात् साधुत्व अंगीकार करता है— संयम-पालन की प्रतिज्ञा लेता है, उस का वह संयम ग्रहण करना सामायिक चारित्र कहलाता है। अपने आप को समभाव मे स्थित करना - लगाना ही सामायिक चारित्र है।

साधुता की दीक्षा लेने वाले को सब से पहले 'करेमि भंते' का सूत्र उच्चारण करवाया जाता है। वह कहता है— हे पूज्य गुरूदेव! मै समभाव को धारण करता हूँ। अप्रत्याख्यान की अवस्था मे मेरा अनन्त काल व्यतीत हो चुका है, मगर उस अवस्था में कुछ भी प्रयो-

जन सिद्ध नहीं हुआ ! आत्मा के किसी कार्य की सिद्धि नहीं हुई। अतएव अब मै सब प्रकार के विषमभाव का परित्याग करके समभाव धारण करता हूँ, सर्वप्रत्याख्यानी बनता हूँ।

प्रश्न होता है कि तू जिस अवस्था में प्रवेश करना चाहता है, उसमें क्या करना पड़ता है ? वह अवस्था क्या है ? इसका उत्तर यह है कि उस अवस्था में समस्त सावद्य क्रियाओ का त्याग करना अनिवार्य है। अतएव वह प्रतिज्ञा लेता है कि जितनी भी पापयुक्त क्रियाएं हैं, उनका मैं यावज्जीवन के लिए परित्याग-प्रत्याख्यान करता हूँ।

सज्जनो ! जैन फकीरी ऐसी नहीं है कि १२वर्ष के लिए तो साधु बन गये और फिर विश्राम ले लिया; गृहस्थ बन कर भोगोपभोग भोगने लगे और फिर इच्छा हुई तो साधु बन गये। भगवान् फर्माते हैं—ऐ जैन साधु ! जैन सैनिक ! जैन सिपाही ! इस उत्कृष्ट सेना मे भर्ती होने वाले ! विचार करके भर्त्ती होना। मौज उड़ाने के लिए भर्त्ती मत होना। यह निश्चय करके भर्त्ती होना कि—

कार्यं वा साधयामि, शरीरं वा पातयामि।

या तो अपने कार्य को सिद्ध करके रहूँगा या शरीर को निछावर कर दूंगा—करूँगा या मरूँगा।

इस साधना के लिए अवसर आने पर प्राण भी त्याग देने पड़ते

हैं । अगर इतनी दृढ़ता हो, यह बात लक्ष्य में हो, तभी आगे क़दम बढ़ाना और साधूव्रत अंगीकार करना, अन्यथा गृहस्थधर्म का पालन करते हुए ही अपनी आत्मा का यथाशक्ति कल्याण कर सकते हो।

यह फकीरी जीवन के अन्तिम श्वास तक की है। इस का बीच मे त्याग नहीं किया जा सकता।

तो साधुत्व अंगीकार करने वाला कहता है— मै पापो का सर्वथा त्याग करता हूँ।

इस फकीरी की हालत मे जीवन पर्यन्त इन्द्रियों से जूझना है। यह कोई मामूली बात नहीं है। तीनो करणो और तीनों योगो को वशीभूत करके कर्म शत्रुओ के साथ निरन्तर लड़ना है। उस की प्रतिज्ञा होती है कि मै हिंसा करना तो दूर रहा, हिंसा करने का भाव भी मन मे नहीं उत्पन्न होने दूँगा। हिंसा करने की बात न सोचूँगा, न दूसरे को सोचाऊँगा और न सोचने वाले को भला जानूँगा। इसी प्रकार वचन से भी और काय से भी सावद्य क्रियाएँ न करूँगा, न कराऊँगा, न करने वाले का अनुमोदन ही करूँगा।

साधु के लिए जो मर्यादा स्थिर की गई है, वहाँ तक तो उसे जाना ही है। अगर उस से पहले वह पीछे हट जाता है और अपना क़दम पीछे ले लेता है तो वह अपने को और समाज को धोखा देता है। ऐसा व्यक्ति त्रिशंकु की तरह बीच में ही लटकता है। वह न साधु की और न गृहस्थ की ही मर्यादा मे रहता है।

साधु का कर्त्तव्य है कि वह उतना ही आगे बढ़े, जितना बढ-ने से साधु की मर्यादा भंग न हो। उसे इसी प्रकार की क्रियाएँ कर-नी चाहिए, जिन से साधुता की वृद्धि हो, संयम की मात्रा बढे और आत्मा की विशुद्धि हो। साधु को आदेश, उपदेश और संदेश—तीनों को अच्छी तरह समझना चाहिए। इन तीनो को समझकर जो चल-ता है, वह अपना भला कर सकता है और अपनी छत्रछाया मे समाज का भी भला कर सकता है। उस के नेतृत्व मे समाज फलता फूलता है।

यह काम करो, इस प्रकार आज्ञा देना आदेश है। आदेश दो का है— सावद्य और निरवद्य। साधु श्रावक को आदेश, उपदेश और संदेश भी दे सकते है, किन्तु किस किस चीज का आदेश आदि दे सकते हैं, यही विचारणीय विषय है। जो बातें धर्मोन्नति की प्रवृत्ति को लिए हुए हों, उस के लिए साधु स्पष्ट आज्ञा दे सकता है। मगर पापमय प्रवृत्तियो के लिए साधु आज्ञा नहीं दे सकता। तो इस प्रकार धर्मप्रवृत्ति के लिए आज्ञा देना आदेश है।

सदेश क्या है? तीर्थंकर देवो ने जनसमुदाय के हित के लिए कहा है— ऐ साधु! तुम दुनिया को, घर-घर में, बिना किसी स्वार्थ भावना के, बिना किसी हिचकिचाहट के, मेरा संदेश दो। मैने जो कुछ कहा है, वह निःसंकोच होकर, निर्भीक भाव से संसार के समक्ष रख दो।

कोई व्यक्ति किसी गांव को जाता है तो उस गांव के रहने वाले

अन्य व्यक्ति अपने आत्मीय जनों या इष्ट मित्रो के पास उस जाने वाले व्यक्ति के साथ अपना संदेश भेजते हैं कि यह बात अमुक-अमुक से कह देना। संदेश ले जाने वाले व्यक्ति का कर्त्तव्य हो जाता है कि ईमानदारी के साथ वह संदेश उन के इष्ट मित्रों को पहुँचा दे। अगर वह बीच मे बेईमानी करता है तो अपने को और दूसरों को धोखे में डालता है। क्योकि संदेश सुनने वाले तो यही समझते हैं कि हमे जो सुनाया जा रहा है, वह सत्य ही होगा ! अतएव संदेशवाहक यदि बीच मे गड़बड़ कर देता है तो बड़ा अनर्थ होने की संभावना रहती है।

इसी प्रकार तीर्थंकर देवो ने जिन-जिन बातों को दुनिया के सामने रखने का संदेश दिया है, वह संदेश हमें भी वफादारी और ईमानदारी के साथ, ठीक रूप से जनता के पास पहुँचा देना चाहिए। अगर हम उस मे झुठाइ करते हैं, दाबादूबी करते हैं या अपनी ओर से नमक-मिर्च लगाते हैं, अपने किसी प्रकार के स्वार्थ से प्रेरित हो कर धोखा देते है, तो हम अपनी आत्मा को अधःपतन के गहरे गड़े में गिराते हैं, मगर कई-एक महानुभाव महात्मा तो भगवान् से भी दो कदम आगे बढ़ने का दुस्साहस करते है। मगर उन्हे बखूबी समझ लेना चाहिए कि साधु और श्रावक का कर्तव्यक्षेत्र पृथक् - पृथक् है। अतएव वे ढोग रचने वाले आगे नही बढ़े, वरन् चार कदम पीछे हटे हैं।

भगवान् ने नौ प्रकार के पुण्य और दस प्रकार के दान बतलाये हैं। अन्न का दान देना पुण्य है और प्यास से मरते को पानी पिला-

ना भी पुण्य है; यह भगवान् के वचन थे। उन भगवान् के, जिन्हें यथाख्यात चारित्र था, पूर्ण चारित्र था, जो वीतराग थे और सर्वज्ञ थे। यह उनकी प्ररूपणा थी। प्रभु ने जो-जो बातें केवल ज्ञान से जानी और केवलदर्शन से देखीं, उनका उन्होंने वर्णन कर दिया। कहा कि अन्न के द्वारा, वस्त्र के द्वारा, पानी के द्वारा, मकान के द्वारा, तथा इसी प्रकार के अन्य साधनो द्वारा मनुष्य पुण्य का उपार्जन कर सकता है। उन उन वस्तुओं की प्राप्ति से दूसरो को राहत मिल सकती है। अतएव उनका दान करने वालो को पुण्य होगा। मगर आज हमारे पड़ौसियों ने इकतर्फा कारवाई शुरू कर दी है।

उन पड़ौसियो का कहना है कि हम ही सच्चे साधु हैं हमें अन्न पानी आदि देने से पुण्य होता है और हमारे सिवाय किसी दूसरे को देने से एकान्त पाप होता है!

सज्जनो! इस प्रकार का स्वार्थपूर्ण कथन कोरा पंथ है और एकतर्फा कारवाई से कभी व्यवहार नहीं चल सकता। मान लीजिए आप बाजार गये। माल लेने के लिए आपने दुकानदार को दाम दे दिये और आप को माल मिल गया। दुकानदार आपको कूड़ा-कचरा नहीं देगा। आप दाम देंगे, वह माल देगा। अगर दाम के बदले कोई कूड़ा- कचरा देने लगे तो उस के पास भी कौन फटकेगा? उसे फिर कोई दाम देने वाला नहीं मिलेगा। आप मेरे आशय को समझ गये?

'जी हाँ'।

अगर आप समझ गये होते तो गोते ही न खाते।

एक स्वामी जो व्याख्यान किया करते थे। वे अक्सर कहते-क्यो भाई समझे ? तब लोग उत्तर देते-'हाँ महाराज जी समझ गये '।

उनमे एक श्रावक बहुत समझदार और होशियार था। वह बड़ा ईमानदार और शुद्ध हृदय तथा सत्यवादी था। वह व्याख्यान में सदा मौन रखता था। स्वामी जी ने उससे कहा—भाई, तुम कभी कुछ बोलते नहीं हो।

उसने उत्तर दिया—महाराज ! बोलने वाले बहुत है।

आशय यह है कि पहले श्रोता लोग 'खमा घणी' तथा 'तहत्त' या 'हाँ जी' आदि शब्दों का व्याख्यान मे प्रयोग किया करते थे तो व्याख्याता को जोश आता रहता था। किन्तु आजकल यह पद्धति समाप्त होती जा रही है। होनी ही चाहिए। बम्बई और दिल्ली मे कुछ सडकें ऐसी भी हैं, जहाँ मोटर का हॉर्न नहीं बजाया जा सकता। बजा दिया जाय तो उनका चालान हो जाता है। तो आप लोगो को खयाल होना चाहिए कि कहाँ अलार्म देना चाहिए और कहाँ मौन रहना चाहिए।

तो हमारे पड़ोसी, जो अपने को जैन होने का दावा करते हैं, उन का कहना है कि— अगर तुमने खाने की रोटी, जो जीवन रक्षण का साधन है, किसी भूखे को दे दी, और पानी— जो जीवन रूप है और वस्त्र, जो जीवन रक्षण मे सहायक है, और वह मकान, जो आश्रयभूत है, और इसी प्रकार जीवनोपयोगी अन्य वस्तुएँ किसी को दे दीं तो उस के साथ यही होगा कि उसने दाम तो बढ़िया वस्तुओ

का दिया, मगर माल पल्ले पड़ा खोटा; अर्थात् तुमने जो दान दिया है, अनुकम्पा भाव से अपनी वस्तु का ममत्त्व त्यागा है, उसके बदले अठारह पापो का भागी होना पड़ेगा !

मेरी समझ मे नहीं आता कि यह सिद्धान्त कैसे बना लिया गया ! ऐसे लोगो को समझाएँ भी तो किस प्रकार समझाएँगे? क्यों कि जब मिथ्यात्त्व का उदय होता है तो उस से मनुष्य की बुद्धि उलटी हो जाती है और सही बात उसकी समझ मे नहीं आती। अगर उन्हें समझाने की कोशिश की जाय तो वे कहते हैं– यह तो हम भी समझते हैं, हम को तुम क्या समझाते हो !

सज्जनों ! एक नवयुवक का विवाह हुआ। नवविवाहिता बहूरानी जी का पदार्पण हुआ। घर मे वृद्धा माँ या दादी वगैरह नहीं थी, जो उस नवविवाहिता को घर के काम - काज में सलाह-मशवरा दे सके। अतएव उस नवयुवक ने अपनी पत्नी से कहा– देखो, अपने घर मे कोई बड़ी-बूढ़ी माता वगैरह नहीं है, अतएव कभी किसी विषय मे सलाह लेने की अवश्यकता पड़े तो पड़ौस की बुढ़िया मांजी से ले लिया करो। उसे परिवार सम्बन्धी सब तरीके याद हैं। अतएव जो बात तुम्हे मालूम न पड़े, उस से विनयपूर्वक पूछ लेना।

उस नवयुवक ने पड़ौसिन से भी कह दिया— आप ही मेरी माता के समान हो। आप की बहू को कोई बात समझ में न आवे तो आप उसे समझा देना।

बुढिया ने कहा– बेटा, चिन्ता न करो। वह भी मेरी बहू ही है, जो भी सलाह लेगी, मै प्रेम से दूंगी।

बहू जो भी बात पूछती, वृद्धा बड़े प्रेम से उसे समझा दिया करती थी। मगर उस नववधू में एक बड़ी विचित्र आदत थी। वह बुढ़िया से कोई भी बात पूछ तो लेती थी, मगर सब कुछ सुनने के बाद बुढ़िया से कहती– माँ जी, यह तो मैं भी जानती हूँ। हर बार बुढ़िया की बात सुन कर वह इसी प्रकार कहा करती और बुढ़िया को उस की यह आदत चुभ गई।

एक दिन बहूरानी बुढ़िया के पास पहुँची और बोली–माता जी! खिचड़ी कैसे बनाई जाती है?

बुढ़िया ने सोचा-आज अच्छा अवसर है। इसे सदा के लिए शिक्षा देनी चाहिए।

यह सोचकर बुढ़िया ने उत्तर दिया- देखो बहू! बढ़िया चावल और दाल लेकर पहले धो लेना और फिर एक बरतन मे पानी डाल कर उन्हें उसमें डाल देना। उन्हे फिर खूब उबालना और जब उबल जाएँ तो एक मुट्ठी राख उसमें डाल देना। फिर कड़छी से उसे खूब हिला देना।

यह सुनकर उस युवती ने पुनः वही परम्परागत मंत्र दोहरा दिया कि—मां जी, यह तो मैं भी जानती हूँ।'

बुढ़िया मन ही मन हँस कर कहा—क्यों नहीं बहूरानी जी!

तुम तो बड़ी समझदार हो। भला खिचड़ी बनाना क्यों नहीं जानोगी तुम्हारा घराना बड़ा है, तू पुण्यवाती है। तुम्हारी समझ में क्या कसर हो सकती है ?

नवयुवती अपनी और अपने घराने की प्रशंसा सुन कर हर्षित हुई और अपने घर आ गई। उसने बढ़िया चावल-दाल उबलनेकेलिए चूल्हे पर चढ़ा दिये। जब वह उबल गये तो उनमे एक मुट्ठी राख डाल दी और घोटघाट कर एक जात कर दिया।

यथासमय उसका पति भोजन करने आया। उसने थाली मे खिचड़ी परोस दी और अच्छी मात्रा मे घी भी डाल दिया। पति ने घी और खिचड़ी को एकमेक करके जीमना आरंभ किया तो स्वाद में फर्क नजर आया। किरकिरी दातो को बेकार करने लगी। तब उस ने अपनी पत्नी से पूछा—देवी जी, खिचड़ी मे किरकिरापन कैसे आ रहा है ?

पत्नी ने कहा—मैंने तो माँ जी की बताई विधि से खिचड़ी बनाई है, यह कह कर उसने वह सारी विधि बतला दी और राख डालने की बात भी दोहरा दी। अन्त में कहा—फिर भी खिचड़ी अच्छी नहीं बनी तो मेरा क्या अपराध है ? अगर उन्होने ही गलत विधि बतला दी हो तो मैं नहीं कह सकती।

यह सुनकर पति समझ गया कि मामला कुछ और ही हुआ है वह पत्नी से कुछ न बोला, किन्तु पड़ोसिन के पास गया। उसने कहा—माँ जी ! आज आपने यह क्या बतला दिया कि खिचड़ी में

एक मुट्ठी राख डाल देना ! यह राय आपने कैसे दी ?

बुढ़िया बोली—हाँ बेटा! यह सलाह मैंने ही उसे दी थी। मगर क्या करूँ; वह तो पहले ही पढी-पढ़ाई आई है। वह मेरे पास आकर पूछ भी लेती है और पूछने के बाद यह भी कह जाती है कि यह तो मैं भी जानती हूँ। आज मैंने उसकी जानकारी की परीक्षा कर लेने का विचार किया। सच समझना कि द्वेषभाव से नहीं, किन्तु शिक्षा देने के विचार से ही राख डाल देने की मैंने उसे सलाह दी थी।

बुढ़िया के इस स्पष्टीकरण से नवयुवक की शका दूर हो गई। उसने घर आकर अपनी पत्नी से कहा- तू वृद्धा से सलाह भी लेती है और फिर अपनी जानकारी भी प्रकट कर आती है। अगर तू पहले ही सब कुछ जानती है तो फिर राय लेने जाती ही क्यों है ? तुझे मालूम नहीं कि सलाह लेने के भी दाम लगते हैं। वकील सलाह देने के दाम वसूल कर लेता है। मगर तुझे राय लेते-लेते इतने दिन हो गये। फिर भी तू ने सिवाय ठोसा लगाने के, उनके हृदय को दुखित करने के, कभी उनकी प्रशंसा न की, कभी कृतज्ञता भी प्रकट नहीं की ! कभी उनका सन्मान सत्कार नहीं किया। क्या ऐसी बातो से किसी की अकलमंदी साबित होती है ? अगर आगे भी ऐसी ही आदत रक्खोगी तो याद रखना, मूर्ख ही रह जाओगी।

पति का यह उपालम्भ सुन कर बहूरानी की बुद्धि ठिकाने आ

गई। उसने वृद्धा से अपने व्यवहार के लिए क्षमा याचना की और आगे सन्मान एवं कृतज्ञता के साथ उससे सलाह लेने लगी।

कहने का अभिप्राय यह है कि सच्चा जानपना वही है कि जिस से आत्मा का हित हो—कल्याण हो। जिस ज्ञान से हित नहीं, अहित होता है, वह ज्ञान नहीं, अज्ञान है। तो जैनधर्म में साधु के लिए आदेश, उपदेश और संदेश देने का विधान किया गया है, मगर उस की एक सीमा है, मर्यादा है और उसी के अन्तर्गत रह कर साधु को आदेश आदि देना चाहिए।

तो तीर्थंकर देव ने नौ प्रकार के पुण्य बतलाये हैं। मगर वहाँ यह नहीं बतलाया कि प्रासुक पानी से ही पुण्य होता है या साधु को देने से ही पुण्य होता है। अगर प्रासुक पानी देने से ही और साधु को देने से ही पुण्य होगा तो जिस देश मे जैन साधु नहीं हैं और जो प्रासुक-अप्रासुक की बात समझते ही नहीं हैं, वे तो पुण्य कमा ही नहीं सकेंगे। वे सदैव पुण्योपार्जन के लाभ से वचित ही रहेगे।

हमारे पड़ौसी कहते हैं कि अन्न और पानी आदि देने से पुण्य होता है किन्तु वह नौ ही प्रकार का पुण्य सिर्फ साधु को देने से ही होता है। अगर किसी दूसरे भूखे-प्यासे को भोजन पानी दे दिया तो अठारहो पापों का पोटला सिर पर बँध जाता है। इस प्रकार वे आपापोखो अपने को ही खिलाने-पिलाने मे एकान्त पुण्य बतलाते हैं

और दूसरों को देने मे एकान्त पाप कहते हैं।

उनकी यह मान्यता प्रकट हो जाने से अब कई जैनेतर लोग कहने लगे है देखो, ये जैनी तो भूखे को भोजन खिलाने मे भी पाप बतलाते हैं! इस प्रकार उनके पीछे हम दूसरे लोग भी बदनाम होते हैं। गलत प्रचार वे करते हैं और बदनामी हमारी भी होती है।

एक भाई ने मुझे एक घटना सुनाई। किसी गाँव मे कूप खुदवाना था। उसके लिए गाँव वालों से चंदा एकत्र किया गया। सब ने प्रेमपूर्वक चदा दिया, मगर वही एक पड़ौसी (तेरापंथी) भाई भी रहता था। उसने चंदा देने से इनकार किया। उसने कहा—कुआं खुदवाने मे बहुत पाप होता है। कुआं खुदेगा तो उससे आस्रव होगा। मगर एक के मना करने पर काम रुक नहीं सकता था। कुछ दिनो बाद कुआ खुद कर तैयार हो गया। नियत समय पर ग्रामवासियो ने उद्घाटन किया और उस अवसर पर कुए का शीतल और मधुर जल निकाल कर पिया। यद्यपि उस गाँव मे दूसरा भी कुआं था, पर उस का पानी कुछ खारा था। इसी कारण नये कुए की आवश्यकता महसूस की गई थी।

सारा गाँव आनन्दपूर्वक नये कूप का जल पीने लगा। दूसरे ही दिन वह पापपंथी सेठ जी भी पानी लेने के लिए अपना घड़ा ले कर आये; किन्तु उनके आते ही दस-बीस लोग लाठियां लेकर खड़े

हो गये। उन्होने सेठ से कहा-बस दूर रहो। कुए के पानी की एक बूँद भी तुम नहीं ले सकते।

सेठ चकराया और कहने लगा—क्यों ?

लोग—जैसे तुम्हें कुआ खुदवाने के लिए चंदा देने से पाप लगता है, उसी प्रकार तुम्हे पानो भरने देने से हमे पाप लगता है; क्योकि तुप कच्चा पानी पीओगे। तुम्हे कुआ खुदवाने मे पाप लगता है, तो हमे तुम्हारे जैसे दयाहीनो को पानी देने में पाप लगता है।

यह जली-कटी बातें सुन कर आखिर उसे ठिकाने पर आना पड़ा।

दुनिया के लोगो ! साधु का मार्ग और है तथा गृहस्थ का मार्ग और है। दोनों को एकमेक कर देने से गृहस्थ धर्मविमुख हो जाता है।

स्वयं तीर्थंकरों ने नौ प्रकार के पुण्य बतलाये हैं। जब तीर्थंकर स्वयं अन्नपुण्य पानपुण्य आदि का प्ररूपण करते हैं तो हमें ऐसा कहने में क्या आपत्ति है ?

'अरे भाई ! धर्म करोगे तो तुम्हारा कल्याण होगा और पाप करोगे तो दु.ख भोगना पड़ेगा इस प्रकार कहना उपदेश है। उपदेश धर्म का देना चाहिए, पाप का नहीं। फल चढ़ाओ, फूल चढाओ, इत्यादि उपदेश नहीं देना चाहिए। साधु सिद्धान्त को निरूपण कर सकता है, पर सावद्य उपदेश नहीं कर सकता। उपदेश वही देना चाहिए, जिस से जीव पाप से बचें और धर्म के ज्ञाता बनें।

इस प्रकार का उपदेश भी किसी हलुकर्मी जीव को ही रुचता है। गुरुकर्मी जीव को धर्मोपदेश भी नही रुचता।

तो चारित्र दो प्रकार का हुआ—देश चारित्र और सर्व चारित्र। श्रावक का चारित्र देश चारित्र है और साधु का चारित्र सर्वविरति चारित्र होता है। क्योंकि साधु तीन करण और तीन योग से सावद्य क्रिया का त्याग करते हैं। साधु को रास्ते मे ही बोझ छोड़ देने की आज्ञा नहीं है, मगर जिन्दगी भर संयम का गुरुतर भार वहन करना पड़ता है। आज कायर लोग परीषह पड़ने पर भाग जाते हैं। मंजिल तक पहुँचने वाले वही होते है जो विपत्ति मे भी दृढ़ बने रहते हैं।

मै धर्मरुचि सम्यक्त्व के विषय मे कह रहा था। धर्मास्तिकाय आदि के प्रति श्रद्धा होना धर्मरुचि सम्यक्त्व है। धर्मास्तिकाय आदि को भी धर्म मे ले लिया गया है और जो जो भी धर्म के बोधक पदार्थ हैं, उन सब को भी धर्म मे गिन लिया गया है।

यह दस प्रकार की समकित बतलाई गई है। जिन्हे किसी भी प्रकार की समकित प्राप्त हुई और धर्मतत्त्व मे श्रद्धा उत्पन्न हुई है, वे आज भी तपस्या आदि क्रियाओ मे जूझ रहे हैं।

यह सम्यक्त्व महान् क्षयोपशम से प्राप्त होता है जो भव्यजीव सम्यक्त्व प्राप्त करेंगे, वे संसार सागर से निस्सन्देह पार हो जाएँगे।

ब्यावर
२२-६-५६

———

॥ ५ ॥

सुदृष्टि सेवा

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः, सिद्धाश्चसिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराःपूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्त सुपाठका मुनिवरा रत्न - त्रयाराधका
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

उपस्थित भद्र पुरुषो !

शास्त्र मे जो विषय चल रहा है, वह आप के ध्यान मे ही होगा। अभी तक आपको बतलाया गया है कि सम्यक्त्व क्या वस्तु है ? सम्यक्त्व का क्या स्वरूप है ? कैसे सम्यक्त्व का आविर्भाव होता

है ? सम्यक्त्व प्राप्ति से आत्मा को क्या लाभ होता है ? इत्यादि विषय आपको बतलाये जा चुके हैं।

संक्षेप मे कहा जाय तो सद्विचारों को समकित कहते हैं। जिस समय समकित दृष्टि आ जाती है, आत्मा को शुद्ध दृष्टि की प्राप्ति हो जाती है, तो उसकी क्रिया सम्यक् भाव में परिणत हो जाती है। आत्मा से विषमता दूर हो जाती है। इसी प्रकार आत्मा का भवभ्रमण जो असीम था, सीमित हो जाता है। अर्थात् उस भव भ्रमण समय की एक मर्यादा बँध जाती है कि इतने समय के पश्चात् जीव को अवश्य ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाएगी।

इस प्रकार जन्म-मरण के अनादि कालीन चक्र से यदि कोई छुड़ानेवाली वस्तु है तो वह सम्यक्त्व ही है। सम्यक्त्व प्राप्ति होने पर कोई लघुकर्मा जीव उसी भव मे भी मोक्ष जा सकता है। एक दो भव के पश्चात् भी जा सकता है। अगर कर्मो का सग्रह अधिक हो-जीव भारी कर्मो वाला हो और इस कारण उसे अधिक भ्रमण करना पड़े तो भी देशोन अर्ध पुद्गलपरावर्त्तन काल से अधिक भ्रमण सम्यक्त्व धारी जीव को नहीं करना पड़ता। इतना काल समाप्त होने पर उसे अवश्य ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है। यह सम्यक्त्व का कितना महान् फल है ! कैसा अपूर्व चमत्कार है !

सज्जनों ! जिस काल का हमे पता नहीं था और रुलते-

रुलते अनन्त काल हो गया आगे और हो जाने वाला था, सम्यक्त्व ने प्रकट होते ही उसकी सीमा बांध दी। सम्यक्त्व का यह कितना बड़ा विलक्षण गुण है परन्तु सम्यक्त्व की प्राप्ति होना सहज नहीं है। जब आत्मा का परिमार्जन हो जाता है आंशिक विशुद्धि हो जाती है, तभी निकट भव्य को सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

वास्तव में शुद्ध श्रद्धान् प्राप्त होना कठिन है। शास्त्रकारों ने कहा है—

सद्धा परमदुल्लहा।

अर्थात्—सम्यक्-श्रद्धा की प्राप्ति बहुत कठिन है।

तो जो वस्तु इतनी दुर्लभ है, उसे प्राप्त कर लेने पर क्या करना चाहिए ? बहुमूल्य हीरे जैसा भौतिक पदार्थ जिसे प्राप्त हो जाता है वह उसे प्राणों की तरह सँभाल कर रखता है। ऐसी स्थिति मे सम्यक्त्व जैसे लोकोत्तर आनन्ददायी अनमोल रत्न को किस प्रकार सँभालना चाहिए, यह बतलाने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं। आत्मा का सर्वस्व समझ कर उसकी रक्षा करनी चाहिए। उसमें किसी प्रकार की विकृति न आ जाय, इस बात की सावधानी बरतनी चाहिए। जो लुटेरे उसे लूटने को फिरते हैं, उनसे भी सावधान रहना चाहिए। गफलत में रहे तो यह समकित- रत्न लुट जायगा। फिर आत्मा को जन्मजन्मान्तर में रुलना पड़ेगा, भटकना पड़ेगा और संसार के भीषण तापों से संतप्त होना पड़ेगा।

शास्त्रकार कहते है—जिसे सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है उसे उसको पनपाने के लिए, वढावा देने के लिए, उसमे अधिक से अधिक उज्जवलता लाने के लिए इन बातो से बचना चाहिए:—

परमत्थसंथवो वा, सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वावि ।
वावन्नकुदंसणवज्जणा य सम्मत्तसद्दहणा ॥

जिस ने सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया है, उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह परम-अर्थ की स्तुति करे ।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, ये परम-अर्थ है; इन को तथा जिन गुणियो मे यह गुण रहे हुए हैं उनकी स्तुति करना सम्यग्दृष्टि का कर्त्तव्य हो जाता है ।

यह भी एक रस है । जैसे खीर मे मिठास मिल जाती है तो उसका रस और बढ जाता है, इसी प्रकार ज्ञानादि की स्तुति करनी चाहिए कि—धन्य है वह ज्ञान और धन्य है ज्ञान को धारण करने वाले वे महापुरुष, जिनकी कृपा से अज्ञान-तिमिर का विनाश होता है और मुक्ति का मार्ग सूझ पड़ने लगता है, जिससे पदार्थो का उत्तम बोध प्राप्त होता है । इसी प्रकार दर्शन की भी स्तुति करनी चाहिए कि धन्य है वह सम्यक् दर्शन जिसने मेरे असीम- अनन्त संसार परि-

भ्रमण को सीमित कर दिया-मोक्ष प्राप्त करने का समय निश्चित कर दिया। और धन्य हैं वे सम्यग्दृष्टि–दर्शन धारक, जो आत्मरमण का अपूर्व अलौकिक आनन्द प्राप्त करते हैं! इस प्रकार ज्ञान और दर्शन की तथा ज्ञानी और दर्शनी जनो को स्तुति करनी चाहिए।

सज्जनो! इसमें तो आपका कुछ खर्च नहीं होता! फिर इन की स्तुति करने मे क्यों प्रमाद करते हैं! दर्शन, ज्ञान और ज्ञानी तथा दर्शनी की स्तुति करने से आपके ज्ञान-दर्शन की विशुद्धि होगी, आत्मा में निर्मलता आएगी और आपका कल्याण निकट से निकटतर आ जायगा।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही परम-अर्थ हैं। यो तो किसी शब्द के मतलब को,उसके वाच्य पदार्थ को भी अर्थ कहते हैं और धन को भी अर्थ कहते हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष–इन चार पुरुषार्थो मे अर्थ शब्द धन से संबध रखता है। भद्र पुरुषो! अर्थ शब्द के मतलब मे दोनो ही अर्थ—धन और मतलब—ठीक लागू होते हैं। यदि हम अर्थ शब्द को शास्त्रों के शब्दों के अभिप्राय के अर्थ मे लागू करें अर्थात् शास्त्र के भाव- आशय- को अर्थ मान लें तो उसको भी हमें भूरि—भूरि प्रशंसा और गुनगान करना चाहिए। धन्य है वह शास्त्र का मतलब जिस से हमें तत्त्व का वास्तविक बोध प्राप्त हुआ!

अगर अर्थ का अर्थ धन लिया जाय तो भी कोई बाधा नहीं। परमार्थ का अर्थ है परमधन अर्थात् श्रेष्ठ सम्पत्ति। संसार में अगर

कोई सर्वोपरि सम्पत्ति है तो वह आत्मा का ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ही है, जिसकी कृपा से आत्मा का परम कल्याण होता है।

संसार मे धन का फल इन्द्रिय भोगो की प्राप्ति होता है। भौतिक धन से भौतिक पदार्थों की प्राप्ति होती है और उनसे भौतिक सुख मिलता है। वर्ण गंध रस स्पर्श का माल तो दुकान पर मिल जायगा, मगर किसी दुकान पर खरीदने जाओगे तो ज्ञान-दर्शन आदि का माल बिकता हुआ नहीं मिल सकता। लौकिक धन से उसकी प्राप्ति होना असंभव है। यानी जो जो भोग आपको इष्ट हैं, प्रिय हैं; आपको गमने वाली वस्तुएँ हैं, उनकी प्राप्ति तो सहज ही हो जायगी मगर याद रखना, उनसे आत्मा का हित नहीं, अहित ही होगा। अधिक से अधिक भोग्य पदार्थो की प्राप्ति कर्मो के अधिकाधिक बंध का कारण होती है। भौतिक अर्थ से प्राप्त होने वाले भोग वर्तमान मे हितावह और सुखप्रद भले जान पड़ें, किन्तु उस सुख के पीछे दुःख है, अन्धकार है। सच्चा प्रकाश तो वही है, जिसकी आदि मे प्रकाश हो, मध्य मे प्रकाश हो और अन्त मे भी प्रकाश हो। जिस प्रकाश के पीछे अनन्त अंधकार अपना भयकर मुख फैलाये खड़ा हो, वह प्रकाश ही नहीं कहा जा सकता।

वह सुख, सुख नहीं है जिसके पीछे या जिसके फल स्वरूप भयानक दु.ख का पहाड़ टूट पड़ने की संभावना हो। जिस सुख को

भोगने के कारण तेतीस सागरोपम तक तमतमा का दीर्घतम नारकीय जीवन व्यतीत करना पड़े, वह सुख किस काम का है !

ऐसे प्रकाश से कोई लाभ नही जो थोड़ी-सी दूर तक पथिक को प्रकाश मे ले जाता है, परन्तु बाद मे उसे अंधकार मे छोड़ देता है।

हम भुलावे मे आकर गहरे अंधकार मे पहुँच गये। हम उस अंधकार मे पहुँच गये जो भोगो का प्रकाश था। वह हमे दुनिया की तरफ ढकेलता रहा। उससे हमारा कोई हित नहीं हुआ। उस कल-पित प्रकाश ने हमे अंधकार मे पहुँचाया। वह प्रकाश एकदम मिट गया और फिर अंधकार ही अंधकार रह गया।

लोग आज इन्द्रियो के भोगो को प्रकाश मानते हैं। कोई उसी को दिव्य प्रकाश समझते हैं। वे उसी की ओर अपने आप को लिये जा रहे हैं। मगर उस प्रकाश की परिसमाप्ति निविड अंधकार में है। ऐसे प्रकाश मे विचरण करने से आत्मा को क्या लाभ है। ऐसे सुहाग से तो कुंवारापन ही भला, जिसके नाम पर छाती पीटनी पड़े। इसी प्रकार वह प्रकाश किस काम का, जिसके पीछे सघन तामस छाया हुआ है। ऐसे प्रकाश को कोई बुद्धिमान् पसंद न करेगा। वह अन्ध-कार अत्यन्त घोर है; क्योकि उसमे पहुँच जाने के पश्चात् तेतीस सागरोपम तक नारकीय यंत्रणाएँ भुगतनी पड़ती है। वहाँ द्रव्य से

भी और भाव से भी अँधेरा है ।

शास्त्र मे प्रश्न किया गया है—भगवन् ! नरक मे सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारे वगैरह प्रकाश करने वाले है या नहीं ?

भगवान् ने उतर दिया—नहीं; वहाँ इनमे से कोई भी प्रकाश करने वाला नहीं है । ये आकाश मे दिन और रात्रि के समय चकमने वाले सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारे वगैरह तो यही हैं, वहाँ नहीं है । वहाँ सर्वत्र अधकार ही अंधकार छाया हुआ है । इस प्रकार वहाँ द्रव्य से अधकार है । भाव से अंधकार इसलिए है कि वहाँ किसी भी तरह का आमोद-प्रमोद नहीं, विश्रान्ति नही, शान्ति नही, तृप्ति नही, निरा-कुलता नही—खुशी का तनिक भी प्रकाश नही । सतत् व्याकुलता, छटपटाहट और व्यथाओ का भीषण अंधकार ही अधकार है । वहाँ आत्मा हर समय चिन्तातुर, उदासीन, आर्त्तध्यान मे लीन और खिन्न रहती है । वहाँ का प्राणी दीन और खिन्न दशा मे ही जीवन व्यतीत करता है ।

एक बड़ी मुसीबत यह कि वहाँ का वह घोर वेदना मय जीवन बडा लम्बा होता है, मगर किसी भी उपाय से बीच मे उसका अन्त नहीं किया जा सकता । उसे पूरा का पूरा व्यतीत करना ही पडता है ।

तो मैं आपको बतलाने जा रहा था कि वह प्रकाश किस काम का जिसके पीछे अंधकार खिचा हुआ चला आ रहा है । हमे तो वह

आलोक अपेक्षित है जिसके पहले भी आलोक हो, बीच मे भी आलोक हो और आगे से आगे दृष्टि डालो तो भी आलोक ही आलोक हो। जहाँ-तहाँ प्रकाश की उज्ज्वल रश्मियां ही दृष्टिगोचर होती हो ऐसा प्रकाश हमे चाहिए।

सज्जनो ! इस धन रूपी मोमबत्ती से इन्द्रियभोगो का जो प्रकाश मिल रहा है; उसे देख कर तुम चकाचौंध मत होओ, मस्त और पागल मत बनो ! आज तुम ऐसे दीवाने हो रहे हो कि उस प्रकाश को ही असली प्रकाश समझ रहे हो और दुनिया मे 'इससे बढ़ कर कोई प्रकाश नहीं है' ऐसा समझ कर धर्मकर्म और आत्मभाव को भूल रहे हो। मगर याद रखना, यह प्रकाश, जिस मे तुम गलतान हो रहे हो, क्षणिक है और गहन अंधकार के गड़हे मे गिराने वाला है। वह स्थायी रूप मे रहने वाला नहीं है। थोड़े ही दिनों मे काफूर हो जाने वाला है।

क्या इस सचाई को सिद्ध करने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता है ? अरे, प्रत्यक्ष किं प्रमाणम् ? अभी हमारी नजरो के सामने एक सेठ करोड़पति था। उसके चारों ओर सुखदायी सामग्री बिखरी पड़ी थी। विशाल बंगले थे। मोटरें थीं। हीरा-मोती और सोने-चांदी के ढेर थे। सभी कुछ था। वह जिस ओर नजर दौड़ाता उसी ओर उसे इन्द्रियों के पोषण की और आनन्द ही आनन्द की छटा दिखाई देती थी। वह सब छटा धन की बदौलत थी। मगर देखते-

देखते उसका दिवाला निकल गया। उसी समय उसकी रौनक कुछ और की और हो गई। उसका धन रूपी दीपक बुझ गया। साथ ही साथ भोगोपभोग के साधनो का प्रकाश भी अधकार मे परिवर्त्तित हो गया। उसका जीवन भी तिमिराच्छन्न हो गया। उसका सारा नशा हवा हो गया। सारी छटा गायब हो गई। जीवन की सभी सुख-सम्पत्तियो ने एक साथ उससे असहयोग कर दिया।

भद्र पुरुषो ! यह सब क्यो हुआ ? इस कारण कि वह उस सामग्री से पागल हो गया था। उसने उस क्षणिक प्रकाश को ही दुनिया का सब से आला प्रकाश मान लिया था।

तो मै कह रहा था कि आज का मानव भौतिक पदार्थो के सुख में ही अपना मार्ग तह कर रहा है; जो कि वास्तव में कण्टकाकीर्ण है और कुछ दूर जाते ही घोर अधकार मे परिवर्त्तित हो जाने वाला है। वस्तुतः इस जीवन में कई दीपक प्रकाश करते हैं और टिमटिमा कर बुझ जाते हैं। तुमने कइयो को शाही लिबास पहने हकूमत करते भी देखा होगा, सुख साधनो मे मक्खी की तरह चिपके हुए और मौज करते भी देखा होगा तथा कइयो को फटे चीथड़ो मे भूख से परेशान होते हुए, गली-कूचो में भटकते हुए, रोटी का एक-एक टुकड़ा माँगते भी देखा होगा। यदि धन रूपी प्रदीप सच्चा और स्थायी प्रकाश देने वाला होता तो थोड़े ही क्षणो में अपना रूप न बद-

लना- अंधकार रूप में परिणत न होता। किन्तु इस क्षणिक प्रकाश मे भी आकर्षणशक्ति इतनी जबरदस्त है कि आज का संसार इसी प्रकाश-धन- की धुन में पागल हो रहा है और अपने ध्येय को, सत्य और शाश्वत प्रकाश की प्राप्ति को भूल गया है।

जब धन रूपी तेल प्रदीप मे खतम हो जाता है, तो दीपक धरा का धरा रह जाता है और मकान मे अंधकार ही अंधकार व्याप्त हो जाता है।

सज्जनो ! प्रकाश का समय गुजारना आसान होता है, किन्तु अंधकार बडा भयावना मालूम होता है और उसमें समय काटना बहुत कठिन होता है जब कभी बिजली घर मे, एंजिन मे कोई खराबी हो जाती है और जब अचानक ही शहर की बिजली ऑफ हो जाती-बुझ जाती है, तो सब चालू काम-काज ठप्प हो जाते हैं और हाहाकार-सा मच जाता है।

अम्बाला के एक भाई ने एक घटना सुनाई। कहा- हम हजारो के नोट सामने रख कर गिन रहे थे कि अचानक बिजली का प्रकाश खत्म हो गया। अंधकार फैल गया। अन्धकार फैलते ही हम घबरा गये।

मैंने उससे पूछा-फिर तुमने क्या किया ?

उसने उत्तर दिया-और कुछ उपाय तो था नहीं, मैं छाती के

नीचे नोट दवा कर लेट गया।

मैंने कहा— क्यों ? ऐसा क्यों किया ?

वह बोला— महाराज, कोई बदमाश अंधकार में भीतर घुस आता तो खैर नहीं थी।

प्रायः शहरो में बिजली हो जाने से लोगों ने लालटेन आदि स्वाधीन साधन रखना त्याग दिया है। वे पूरी तरह पराधीन हो गये हैं। इसी कारण कभी – कभी उन्हें बड़ी मुसीवत का सामना करना पड़ता है। ठीक ही कहा है—

पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।

अब तो बस खटका दवाया और प्रकाश ही प्रकाश हो गया और इसी मे आनन्द विभोर हो गये ! मगर जब खटका दवाया और प्रकाश नहीं हुआ और सारा मामला ही बिगड़ गया , तब आप को कितना खटका ?

तो यह जो सौभाग्य के कण - दाने बिखरे पड़े हैं चारो ओर, वह सब धन रूपी तेल के आधार पर ही हैं। तेल खतम हुआ तो दीपक बुझते क्या देर लगेगी ? धन समाप्त हो जाता है तो उसके साथ ही साथ बंगले, मोटरकार आदि सुखसाधन भी बिक जाते हैं। यहाँ तक कि तन पर कपड़े रहना भी कठिन हो जाता है।

तो आज का मानव इसी सुख के लिए अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर रहा है। असली प्रकाश तो वही है जो आत्मा का अपना निज स्वरूप है और आत्मा के साथ ही जाता है। वह किसी बाह्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं रखता, पराश्रित नहीं है। इसी कारण वह महाप्रकाश स्थायी है। जानते हो वह लोकोत्तर प्रकाश क्या है? वह आत्मा के नैसर्गिक आनन्द नामक गुण का प्रकाश है और ज्ञान-दर्शन चारित्र से उसका आविर्भाव होता है। यहां ध्यान रखना चाहिये कि यद्यपि चारित्र जन्मान्तर मे साथ नहीं जाता, तथापि चारित्र की आराधना का फल अवश्य साथ जाता है।

तो ज्ञान दर्शन और चारित्र की आराधना का फल रूप जो प्रकाश है, वह इहलोक और परलोक मे आत्मा के साथ ही रहता है। मगर यह आत्मा ऐसे सदा सहायक साथियो को तो छोड़ रहा है और ऐसे साथियो के साथ प्रीति जोड़ रहा है, जो रास्ते मे ही धोखा देने वाले हैं।

तो मै कहता जा रहा था कि आप को अर्थ और परमार्थ का अन्तर समझ लेना चाहिए। आपका धन रूप अर्थ तो अर्थ है ही जिस से भौतिक सुखो की प्राप्ति होती है। मगर यह परम-अर्थ नहीं है। परम अर्थ तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप ही है। यही आत्मा का परमोत्कृष्ट धन है। इस धन को जब तक आत्मा प्राप्त न कर ले तब तक आत्मा से दरिद्रता दूर न होगी। जिन महान् आत्माओ ने

परिश्रम करके, मेहनत करके, कमाई करके, कष्ट उठा कर इस परम अर्थ को प्राप्त किया है, उत्तम धर्म की उपलब्धि की है, वे आत्माएँ कृतकृत्य हो गईं और मालामाल हो गईं। उनकी कंगाली एक जन्म के लिए नहीं, जन्म-जन्मान्तर के लिए भी दूर हो गई। ऐसा महान् है यह परमार्थ !

सज्जनो ! लौकिक धन भी मेहनत किये विना नहीं मिलता तो परमार्थ रूप धन विना श्रम किये ही किस प्रकार प्राप्त हो सकता है ?

शास्त्रकारो ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को अलौकिक रत्न कहा है। अलौकिक इसलिए कि वह इहलोक का ही नहीं, परलोक का भी साथी है। वह भौतिक धन की तरह अन्तिम समय मे अगूठा नहीं दिखा देता—साथ जाता है।

मैंने आपको सम्यक्त्व के दस भेदो का स्वरूप बतला दिया है। अब उन बातों पर प्रकाश डालना है। जो समकित को विकसित करने वाली हैं और उसमे चार चाद लगाने वाली हैं।

उनमें पहली बात यह है कि समकितधारी परम-अर्थ की प्रशंसा करे, अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप आत्मधन की प्रशंसा करे। साथ ही साथ जिन्होंने उस परम-अर्थ को प्राप्त किया है, उनकी भी प्रशंसा करे कि धन्य हैं वे ज्ञानी, दर्शनी, चारित्रशील तथा

तपस्वी आत्मा, जिन्होने परम-अर्थ रूपी अलौकिक और असाधारण रत्न प्राप्त करके अपना दुर्लभ मानवभव सार्थक किया है !

सज्जनो ! स्मरण रखिए, प्रकाश सूर्य में है, किन्तु आंखे वन्द कर लेने पर उसका प्रकाश नहीं मिलता । लिलोतरी (वनस्पति) में कितनी हरियाली है ! उससे आँखो को कितनी शान्ति मिलती है ! किन्तु जब आंखे खोल कर उस की तरफ़ टकटकी लगाओगे तभी तो आँखो को तरावट मिलेगी ! तभी आंखे शीतल हो सकेंगी । तरावट देने का गुण हरियाली में होने पर भी उस की ओर आंखे गड़ानी पड़ती हैं, इसी प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप जो तरावट है वह उसके धारक के साथ सवधित है,फिर भी उनकी प्रशंसा करने से, उनका गुणगान करने से, उनके प्रति एकतार होने से, लौ लगाने से, उन की असीम शान्ति का आकर्षण हमारे हृदय में भी होता है और हमारी आत्मा मे भी उस प्रकाश की किरण चमकने लगती है ।

प्रश्न किया जा सकता है कि ज्ञान ज्ञानी के पास है,दर्शन दर्शनी के पास है, चारित्र चारित्री के पास है और तप तपस्वी के पास है; तो फिर उनका गुणगान करने से हमको क्या मिलने-मिलाने वाला है?

इस प्रश्न के उत्तर मे कहा जा सकता है कि जैसे हरियाली देखने से आँखो को शान्ति मिलती है, उसी प्रकार जो गुणी आत्माएँ हैं , हरियाली की तरह जो गुणशील आत्माएँ हैं और जिनमे ज्ञान– दर्शन

की तरावट भरी है, उन्हे यदि हम शुभ दृष्टि से देखते हे, जीभ से उन का गुणगान करते हैं, तो कोई कारण नहीं कि हमारी आत्मा को उन से शान्ति न मिले ! अरे, वृक्ष रूप एकेन्द्रिय जीव यदि अपने हरियालेपन के गुण से दूसरो को आनन्दित कर सकते हैं तो क्या दिव्य ज्ञानचारियों के गुणों से किसी को आनन्द मिलने मे सन्देह किया जा सकता है? नहीं, इस मे सन्देह करने का कोई कारण नही है ।

मन मे प्रशस्त और पवित्र भावना रक्खोगे, वचन द्वारा गुणी जनो का गुणगान करोगे और काया से गुणियो की सेवा करोगे तो नि.सन्देह तुम्हे शान्ति मिलेगी, आनन्द प्राप्त होगा । और साथ ही उस का आनन्द उन दलालो को भी दलाली के रूप मे मिल जाता है, जो सौदा वनाने वाले हैं, गुणियों के गुण बतला कर भूली-भटकी आत्माओ को उन के दिव्य ज्ञान की ओर आकर्षित करने वाले हैं ।

तो इसमे सन्देह नहीं कि गुण गुणी के है, फिर भी यदि हम शुभचिन्तक बन कर उन को सहयोग देंगे, उनके गुण-ग्राम के रसिक बनेंगे, और उनके उत्साह को बढ़ाएँगे तो हमे अवश्य शान्ति मिलेगी और दलालो को भी अवश्य दलाली मिलेगी ।

कोई तपस्वी तप कर रहा है और भले ही वह चाहे शुद्ध आत्म कल्याण की दृष्टि से नहीं कर रहा है, किन्तु देखने वाला तपस्वी

को और उस के तप को शुद्ध दृष्टि से देख रहा है और उस तप एवं तपस्वी का गुणगान करता है, तो उसे लाभ ही मिलेगा। भले तपस्वी अपने लिए दंभी हो, स्वार्थ भाव से तप करता हो, अपना यश फैलाने के लिए करता हो, मगर देखने वाला दंभी नहीं है, वह उस तप को शुद्ध समझ रहा है और शुद्ध तप की ही प्रशंसा कर रहा है। उस की भावना शुद्ध है। अतएव उसे एकान्त लाभ ही होगा। मगर आज हम देखते हैं कि तपस्या को बढ़ावा देने वाले, धर्म-निष्ठ पुरुष के गुणगान करने वाले तो थोड़े हैं किन्तु निन्दा करने वाले बहुत मिलते हैं। लेकिन वह समकितधारी ही कैसा जो परम-अर्थ की स्तुति न करे। वह जीभ ही क्या जो गुणियों का गुणगान न करे। जो जीभ गुणियो का गुणगान करने को तैयार नहीं है, किन्तु बुराई करने को तैयार है, जो गुणियो के गुणगान के समय बंद हो जाती है; समझ लो वह जिह्वा नहीं, मांस का लोथ है, चमड़े का टुकडा है! गुणियों के गुण गाने से लोगों पर गुणों का असर पड़ता है, गुणों का महत्त्व बढ़ता है, गुणो के प्रति आकर्षण होता है और गायक की आत्मा में एक प्रकार की जागृति उत्पन्न होती है। वह गुणगान करके सोचता है कि मैं भी ऐसे गुणों को धारण करूँ। मैं भी गुणी बनूँ।

तो जो गुणियों के गुण गाता है, उन की भूरि – भूरि प्रशंसा करता है, वह भी अवश्य गुणी बन जाता है। इस के विपरीत जो, गुणानुवाद के बदले निन्दा करता है, समझ लो कि वह अपने आप

को पतन की ओर ले जाता है।

इसी से ज्ञानी जनो का कहना है कि तुमसे बन सके तो परम-अर्थ की स्तुति और प्रशंसा करो ; इतना भी न बन सके तो कम से कम निन्दा मत करो। अगर तुम अपने ज्ञानी गुरु को तारीफ करोगे तो उनकी महिमा सुन कर दूसरे भी प्रभावित होगे। तुम्हारे कर्मो की निर्जरा होगी और दूसरो के अन्त.करण में उन के प्रति श्रद्धा जागृत होगी, भक्तिभाव बढ़ेगा, जिससे धर्म की उन्नति होगी। अगर तुम गुरु की निन्दा करोगे तो निरर्थक ही कर्म–बन्ध कर लोगे, जिनका फल भोगना कठिन हो जायेगा। इस के अतिरिक्त दूसरो के मन मे अश्रद्धा उत्पन्न हो जायेगी, जिस के परिणामस्वरूप वे जिन वाणी सुनने से, सत्संगति से वंचित होगे और धर्मप्रचार मे बाधा उत्पन्न हो जायगी।

कितनी बड़ी भूल होगी कि जो लोग राह भूले हुए थे, अन्ध–कार मे प्रकाश में आने वाले थे, उन्हे तुम्हारे निन्दा भरे वचनो ने प्रकाश मे आने से रोक दिया ! अतएव परम-अर्थ के गुणगान करो। ऐसा करने से तुम्हारी आत्मा उज्ज्वल होगी, आत्मा मे उत्क्रान्ति उत्पन्न होगी और जीवन में आमोद-प्रमोद की लहर पैदा होगी। उस लहर मे बह कर तुम भव भ्रमण के चक्कर से छूट कर अजर-–अमर निराबाध सुख की प्राप्ति होगी।

दूसरी बात है— 'सुदिट्ठपरमत्थसेवणा'। अर्थात् जिन्होने पर-

मार्थ को भलीभांति— यथार्थ रूप से जान लिया है, जिन की दृष्टि शुद्ध है, जिन के मन, वचन और कर्म मे वक्रता नहीं है, ऐसे धर्मी पुरुषो की सेवा करनी चाहिए।

सेवा किसकी करनी चाहिए ? यों तो किसी साहूकार की सेवा करने से द्रव्य – धन की प्राप्ति हो जाती है, मगर उस से समस्या का स्थायी समाधान नही होता। अतएव शास्त्रकार कहते हैं—सेवा उन पुरुषो की करनी चाहिए जो शुद्ध दृष्टि वाले हैं, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के विषय मे शुद्ध श्रद्धा वाले हैं। अगर किसी दिवालिये की सेवा करोगे तो उससे कुछ नहीं मिलेगा। कहावत प्रसिद्ध है— गंजों के शहर में नाई की गुजर कैसे हो सकती है ? और जहां सारे ही दिगम्बर नाथ—नग्न—रहते हो, वहां धोबो और दर्जी को क्या मिलता है ? इसो प्रकार दिवालिया की सेवा करने से कुछ भी प्राप्ति नहीं होगी।

सज्जनो ! सेठ के मुनीम और गमाश्ते भी तब तक ही रहते हैं जब तक सेठ के पास धन होता है। जब सेठ का दिवाला निकल जाता है तो वे भी इत्तला दिये विना ही चले जाते हैं; क्योंकि वे समझते हैं कि अब यहां रहने मे कोई सार नही, कुछ लाभ नहीं।

जैसे सूखे सरोवर से और सूखे वृक्ष से कुछ भी मिलने वाला नहीं है, उसी प्रकार दिवालिये की सेवा करने से भी कुछ लाभ नहीं है।

जिस के पास न ज्ञान है, न दर्शन है, न चारित्र है, उस की सेवा कर के क्या पाना चाहते हो ? फिर भी आश्चर्य है कि दुनिया पागलो की तरह उन को सेवा करती चली जा रही है। वास्तव में जो सेवा के पात्र हैं, वे तो धक्के खा रहे हैं, जिनको जीवन का पोषण चाहिए, वस्त्र चाहिए, सिर छिपाने को झौंपड़ो चाहिए, वे ठोकरें खा रहे हैं। वेचारे नंगे फिर रहे है, भोजन के अभाव मे उन का शरीर कृश हो रहा है, मकान के विना सर्दी-गर्मी मे मर रहे हैं और कराह रहे हैं। उन की चिन्ता किसको है ? मगर जिन जड़ मूर्तियो को न तो सर्दी-गर्मी और न भूख-प्यास ही कष्ट पहुँचाती है, उन की सेवा के लिए हजारो-लाखो नहीं,करोड़ो रुपये खर्च किये जा रहे है। और उन के लिए करोड़ो रुपये वैंक मे जमा करा रक्खे हैं !

किन्तु याद रखना, मै आप को कहने जा रहा था कि जो वृक्ष निर्जीव है, सूखा हुआ है, उससे फल, फूल अथवा शीतल छाया आज तक किसी को न मिली है और न भविष्य मे ही मिलने की आशा है। ऐसे वृक्ष मे भी अगर कोई पानी सींचता है या फल की आशा से सेवा करता है तो यह उसकी नितान्त मूर्खता है !

तो सेवा चेतन की ही की जाती है न कि जड़ पदार्थ की। हाँ, जड़ वस्तु का रक्षण जरूर किया जाता है और करना ही चाहिए जिससे वह अधिक से अधिक समय तक काम मे आता रहे, मगर उस

जड़ पदार्थ की सेवा तो नहीं की जाती। सेवा शब्द चेतन पर ही लागू होता है।

शास्त्र मे दस प्रकार की वैयावच्च (सेवा) बतलाई है— (१) आचार्य (२) उपाध्याय (३) तपस्वी (४) रोगी (५) नवदीक्षित (६) कुल (७) गण (८) संघ (९) साधु (१०) सधर्मी— समान समाचारी वाला। ग्यारहवां जड़ मूर्त्ति की सेवा का पाठ मेरे देखने मे नहीं आया। कहने वाले कहते हैं— 'हम अरिहन्तों की सेवा करते हैं।' किन्तु अरिहन्तों की विनय करने का उल्लेख तो शास्त्रो मे है, किन्तु वैयावच्च (सेवा) का कहीं उल्लेख नहीं है।

आप जानते है— अरिहन्त किसको कहते हैं? यह पदवी किस को प्राप्त होती है? जो चौतीस अतिशयो से, पैंतीस वाणी की विशिष्टताओ से और बारह गुणो से युक्त होते हैं, वे अरिहन्त कहलाते हैं। यह गुण जिस मे नहीं हैं, उसे कैसे अरिहन्त कहा जा सकता है और उसकी सेवा अरिहन्त की सेवा कैसे कही जा सकती है?

भद्र पुरुषो! मेरा मस्तक गुणो के ही आगे झुकने वाला है। वह निर्गुण के आगे कदापि नहीं झुकेगा। मस्तक ही सारे शरीर मे उत्तमांग है। वह जहाँ-तहाँ रगड़ने के लिए नहीं है। हाँ, गुणियों के आगे इसे झुकना ही चाहिए। अगर वहाँ भी नहीं झुकेगा तो इसे कोई सियार या कौवा भी नहीं खाएगा। अरे, यह पड़ा पड़ा सड़

जायगा और आसपास वालो को भी दुर्गन्धयुक्त वायुमण्डल से अस्व-स्थ बना कर दुखित करेगा।

एक जगह जंगल मे मनुष्य की लाश पड़ी थी। उधर से एक गीदड़ आ निकला। वह दो दिन का भूखा था। लाश पड़ी देख कर वह बड़ी उत्सुकता से, तेज कदमों से, खुश होता हुआ वहाँ पहुँचा। वह लाश को खाना ही चाहता था कि उधर से ही एक पुरुष भी आ निकला। पुरुष ने उस गीदड़ से कहा— कहाँ जा रहे हो ? गीदड़ ने उत्तर दिया— मै भूखा हूँ और इस मुर्दे को खाना चाहता हूँ। इसे भक्षण करके मै अपनी क्षुधा की निवृत्ति करूँगा। यह सुन कर पुरुष ने सियार से कहा— तुम जिस मृतक मनुष्य का मास खाना चाहते हो, उस व्यक्ति का सारा जीवन पापाचार में, अत्याचार मे, और अनाचार में व्यातीत हुआ है। उस पाप के कारण इसका एक-एक अंग-उपांग पापमय है।

सियार बोला— अच्छा, मैं इसका मस्तक खा लूँगा। वह तो उत्तमांग है न!

मनुष्य ने कहा— इसका मस्तक भी महान् पापो से अपवित्र है। वह कभी गुणियो के चरणो मे नहीं झुका। वह मस्तक हमेशा अभि-मान-गरूर से अकड़ा ही रहा, झुका नही। उस ने दूसरो का अहित ही सोचा। कभी किसी का भला नहीं सोचा। अतएव उसका मस्तक

भी भक्षण करने योग्य नहीं है।

सियार— ओहो ! उसका मस्तक ऐसा पापी है ! मैं उसे नहीं खाऊँगा। मगर इस के हाथ तो खा सकता हूँ ?

मनुष्य— नहीं, हाथ भी खाने योग्य नहीं हैं, क्योंकि हाथों से इसने कई झूठे लेख और खाते लिखे हैं। कलम-कसाई बन कर कइयो की गर्दन पर छुरी चलाई है। कइयो के जीवन साधन छीने हैं और गुणी जनो को कभी हाथ नहीं जोड़े। हाथो से कभी दान नहीं दिया। अतएव इसके हाथ भी खाने योग्य नहीं हैं।

सियार— अच्छा, फिर इसको भुजाएँ खा लूं ?

मनुष्य— वह भी तो बड़ी अपवित्र हैं, क्योंकि उन से इस ने बहुतो को पीड़ा दहुंचाई है।

सियार— तो फिर कान खाऊँ ?

मनुष्य— नहीं, वह भी खाने योग्य नहीं; क्योंकि इसने कानो से कभी प्रभुवाणी नहीं सुनी, गुणियो की गुणगाथा नहीं सुनी; बल्कि जहाँ भी चाण्डाल-चौकड़ी जुड़ी वहां गुणीजनों की निन्दा ही निन्दा सुनी। कामोत्तेजक गाने सुने। अतएव इसके कान भी अपवित्र हैं।

सियार— इसकी आखें खा लूं ?

मनुष्य— अरे भाई, आंखें भी क्या कम हैं ! इसने आंखो से पराई बहू-बेटियो को पापदृष्टि से, कामवासना से ताका है। कभी गुरु के दर्शन नहीं किये, स्वाध्याय नहीं किया और कभी जीव — जन्तुओ

को बचाने के लिए भूमि देख देख कर नहीं चला।

सियार— और पेट ?

मनुष्य— इसका पेट हमेशा कब्रिस्तान का ही काम करता रहा। इस ने कभी खाद्य - अखाद्य का विचार नहीं किया। अंडों से, मांस से और मदिरा से ही यह पेट भरता रहा है। न जाने कितनी विधवाओं और अनाथ बच्चों का धन अमानत के रूप मे रख कर उसे हजम कर लिया और उन्हें निराधार कर दिया। इसने दूसरो का तो फैसला किया, किन्तु स्वयं भयंकर-भयंकर अपराध किये, जिनका कोई फैसला ही नहीं है। किसी पड़ोसी ने इस का विश्वास कर के मरते समय अपना सर्वस्व—सारी पूँजी— इस के हवाले की इस विश्वास पर कि यह उस के नन्हे - नन्हे नौनिहालों की परवरिश करेगा और जब वे वारिस हो जाएँगें तब उन्हें सँभला देगा। मगर इस कम्बख्त ने विश्वास-घात किया ! उन मासूम बच्चो की वह पूजी हजम कर ली। इसको नियत बदलते देर न लगी।

भाई सियार ! यह इतना पातकी है कि इस की बुद्धि एक-दम पलट गई। सोचने लगा— अगर ये बच्चे मर जाएँ तो यह धन मेरे ही पेट मे हजम हो जाय। इसने यह ख्याल नहीं किया कि ये मरेंगे तो अपनी मौत से मरेंगे, मेरे सोचने से क्या होता है ?

अरे ऐसा सोचने वाले ! बच्चे मरें या न मरें,मगर तू तो मरे से भी बदतर हो गया !

हां, तो इस ने उन बच्चों के बीमार पड़ने पर दवा दिलाने में और वैद्य बुलाने में सदैव उपेक्षा की !

सज्जनो ! यह धौली डाकिन, कागज के टुकड़े बड़ों-बड़ों के मन को खराब कर देते हैं। अतएव वह यही माला फेरता है कि ये बच्चे मर जाएँ तो धन मुझ को मिल जाय। किन्तु–

जाको राखे साइयाँ,
मारि न सक्के कोय।

वाली ही कहावत चरितार्थ होगी और तेरी चाह तेरे मन मे ही रह जायगी। अगर उन बच्चो की आयु लम्बी है तो कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता। कवि कहता है—

उन्हें क्या खौफ है जिन पर कि ईश्वर मेहरबां होवे।
न होवे बाल भी बांका जो दुश्मन जहां होवे ॥

सारा जमाना दुश्मन हो जाय किन्तु कर्मचंद जी अगर सीधे हो तो कोई बाल भी बांका नहीं कर सकता।

कहने का भाव यह हे कि इस कम्बख्त पापी ने अपने पेट मे विधवाओं और यतीमो का माल भी हजम कर लिया और इस कारण इसका पेट भी पापी हो गया है। अतएव पेट भी इस का खाने योग्य नहीं है।

सियार— तो पैर खाकर भूख मिटा लूँ ?

मनुष्य— इस के पैर भी पापी हैं, क्योंकि ये पापकर्म मे भाग-भाग कर गये, किन्तु महात्माओ के दर्शन करने नहीं गये। इस प्रकार इस पापी का प्रत्येक अंग - उपांग गया—गुजरा है, अपवित्र है, अतएव खाने के योग्य नहीं है।

यह सब वर्णन सुन कर सियार को मालूम हुआ कि यह मनुष्य पापी है, इस का अग—अग पापी है और इस को खाने से पाप होगा। तब उसने कहा— ऐ मनुष्य ! मै भूखा मर जाऊँगा, किन्तु ऐसे पापी को नहीं खाऊँगा और न आयंदा देखूँगा ही।

सज्जनों ! ऐसे पापी को शृगाल ने भी भक्षण नही किया। मगर आज तो मनुष्य की आकृति मे शृगाल से भी गये—बीते बैठे है जो जिंदे को भी खाने मे सकोच नहीं करते। अत. मनुष्य को अपने जीवन को सँभाल कर चलना चाहिए। अन्यथा पिछड़ जान पर पुनः मनुष्य का भव प्राप्त होना कठिन हो जायगा। अतएव जीभ मिली है तो गुणियो के गुणग्राम करो और धार्मिक आत्माओ की सेवा करो, उन्हे सन्मान दो और धर्म करने मे सहयोग दो। गुणी पुरुषो की तन, मन, धन से सेवा करो, उनके सम्पर्क मे रहो, निकट मे रहो, जिस से उन को भी सहयोग मिलेगा और तुम को भी प्रकाश मिलेगा।

यद्यपि दीपक दूर पड़ा है, मगर ज्योति को लेकर पड़ा है। और

यदि तू उस के पास जायगा तो तुझ को भी प्रकाश मिलेगा। यद्यपि जलने वाला कोई और है, किन्तु प्रकाश तो उस के पास हरेक जाने वाले को मिलता ही है।

लोग दीपक का उपहास करते हुए कहते हैं— 'दिये तले अंधेरा !' अर्थात् ऐ दीपक ! तू दूसरो को तो प्रकाशित करता है, परन्तु तेरे स्वयं के तलभाग मे अन्धकार व्याप्त रहता है ! किन्तु मैं कहता हूँ— अरे देवताओ ! कभी किसी ने यह भी सोचा कि— मैं दीपक को उपालंभ देने को तो तैयार हो गया किन्तु कभी उस से बात भी की कि तू सब को तो प्रकाश दे रहा है, मगर तेरे ही नीचे अंधेरा कैसे हो रहा है ? ओह ! बिना पूछे ही उस बेचारे को अनफिट— अयोग्य करार दे दिया ? एक बार भी जवाब तलब नहीं किया कि तुम्हारे नीचे अंधेरा क्यो है ? तुम्हे ऐसा पूछने की फुर्सत नहीं है। अगर तुमने दीपक से यह प्रश्न पूछ लिया होता तो ऐसा मुँह तोड़ उत्तर मिल जाता कि तुम्हारी अक्ल ठिकाने आ जाती।

दीपक ने अपनी सफाई पेश की है। जब उस ने अपने लिए उपालंभ सुना तो हँस कर कहा— मेहरबान ! मुझ से इस का उत्तर क्या पूछ रहे हो ! मेरे पक्ष की पैरवी तो तुम ने स्वयं ही कर दी ! तुम मुझे यह इलजाम लगाते हो कि मैं दूसरों को तो प्रकाश देता हूँ, किन्तु स्वयं अन्धकार मे रहता हूँ। तो भाई ! मुझे ऐसा व्यसन लग गया है, मेरा जीवन कुछ ऐसा बन गया है कि दूसरो की भलाई किये

विना मुझसे नहीं रहा जाता। उपकार करने की मेरी आदत पड गई है। मुझे दूसरो की भलाई करने से ही फुर्सत नही है ! जो लोग भूले-भटके अन्धेरे मे फिर रहे थे, जिन के माथे अन्धेरे मे टकरा रहे थे और जो दुःखी हो कर प्रकाश की खोज मे भटक रहे थे, और वे एक नहीं, दो नहीं, हजारो की सख्या मे थे, उन्हे प्रकाश दिये विना मै रह नहीं सकता था। उन को प्रकाश बांटते - बांटते मुझे अपनी ओर ध्यान देने का ख्याल ही नहीं आता। मै सोच भी नहीं पाता कि मेरे नीचे प्रकाश है या अन्धेरा ?

इस प्रकार कवि ने दीपक का भी समर्थन किया है। कवि कहता है— वास्तव में परोपकारनिरत वीरो को अपना ध्यान ही नहीं रहता कि मेरे नीचे क्या है ? मै स्वय किस स्थिति मे हूँ !

यह है परोपकार करने वालो का महान् आदर्श ! वे तो दूसरो की भलाई मे ही सलग्न रहते हैं। स्वयं की कुछ भी परवाह नही करते। जो दूसरो का भला भी करना चाहता है और आराम भी लूटना चाहता है, वह भ्रम मे है। दोनों बातें साथ - साथ नही बनने वाली हैं।

मान लो तुम भोजन करने बैठे हो। इतने में ही तुम्हारे पास समाचार आते हैं कि पानी की बाढ आ गई है, किसी के मकान में

आग लग गई है या ऐसी ही कोई दूसरी दुर्घटना घट रही है, भयकर हानि हो रही है और तुम्हारा वहाँ पहुँचना और लोगो को राहत पहुँचाना आवश्यक है, तो तुम क्या करोगे ? अगर तुम्हे सेवा का लाभ मिल रहा है तो तुम बिना खाये और बिना पीये भी उसे लूट लो प्राप्त कर लो। हो सकता है कि तुम खा - पीकर जाओ और तब तक न जाने क्या गजब हो जाय! फिर सेवा का लाभ मिल सके अथवा न मिल सके ! अतएव सचाई और ईमानदारी यही है कि उस भलाई के काम मे अपनी परवाह किये बिना, जी–जान से जुट जाओ। पूरी तरह लग जाओ।

सज्जनों ! अपने सुखोपभोग मे फर्क न आने पावे और सेवा का लाभ भी पूरा उठा लिया जाय, यह दोनो बातें नहीं बन सकतीं। सेवा का वास्तविक लाभ वही उठा सकता है जो अपने सुख को तिलांजली देना जानता है। जो स्वार्थपरायण होते हैं, वे सेवा का लाभ नही उठा सकते। कहा है—

> अरे यार की गली में आना यों ही नहीं है ।
> किन्तु हथेली पै सिर को रख कर आना है ।

वह प्रेमी तभी मिलता है। उसे पाने के लिए कुर्बानी की जरूरत है। जिन वीरो ने सेवा की है, वे हँसते-हँसते फांसी के तख्ते पर झूल गये, प्राण निछावर करके भी दु.खी न हुए। वे अपने लक्ष्य

से पीछे न हटे। वस्तुतः धर्मी पुरुष का कदम आगे से आगे बढ़ता है। वह पीछे नहीं हट सकता।

तो मैं कह रहा था कि सेवा का लाभ उठाने के लिए अपने सुखों को भी लात मारनी पड़ती है।

आर्यसमाज में एक पंडित लेखराज हो चुके हैं। वे आर्यसमाज के प्राण थे, प्रचारक और उपदेशक थे। उन्होंने बहुत से हिन्दुओं को मुसलमान और ईसाई होने से बचाया। गोरक्षक से गोभक्षक बनते हुओ को रोका।

एक बार की घटना है। वे अभी-अभी प्रचारकार्य से लौटे ही थे। उनका इकलौता बेटा रुग्णावस्था मे था, बल्कि सख्त बीमार पड़ा था और उनकी वृद्धा माता उसकी सेवा कर रही थी। ज्यो ही लेख-राज जी भोजन करने बैठे और उन्हें सूचना मिली कि अमुक जगह हजारों आदमी ईसाई और मुसलमान होने वाले हैं और वहाँ आप का पहुँचना अत्यावश्यक है।

लेखराज जी ने यह समाचार सुना तो हाथ का कौर हाथ में और थाली की रोटी थाली में ही रह गई। वे उसी समय उठ खड़े हुए। उन्होंने माता जी से कहा— मैं जा रहा हूँ। मुझे आशीर्वाद दीजिए कि अपने कार्य में सफल हो कर शीघ्र लौटूँ।

माता न कहा— बेटा, तू अभी-अभी आया है। भोजन भी नहीं कर पाया है। तिस पर यह बालक बीमार है। इसे छोड़ कर कहाँ जा रहा है ? इस बच्चे का तो कुछ किया होता !

यह सुनकर पण्डित लेखराज ने कहा— माता जी ! यदि बच्चे की जिंदगी है तो उसे कोई मारने वाला नहीं है। बचने वाला है तो बचेगा और फिर बचेगा। कदाचित् मर गया तो भी मुझे इतना दु.ख नहीं होगा। हाँ, मै उन हजारों धर्म से विमुख होने वाले लोगों को अगर बचा न सका तो मुझे अत्यधिक दुःख होगा; क्योंकि वास्तव में मर तो वे रहे हैं जो धर्म से विमुख हो रहे हैं ! बच्चा मरेगा तो अपनी दुनियावी जिंदगी से ही मरेगा, किन्तु वे तो अपने धर्म से मर रहे हैं। धर्म से मरना ही वास्तव मे मरना है।

लेखराज जी पुनः बोले— माता ! चिन्ता न करो। इधर तो एक का ही प्रश्न है ! पर उधर हजारो भाईयो के धर्मप्राणो का अन्त हो रहा है। अतएव मेरा वहाँ जाना आवश्यक है। ऐ माता ! मैंने तेरा उज्ज्वल दूध पिया है और सेवा की मिस्री घोल कर तूने स्तन-पान कराया है। मै तेरे पवित्र दूध को कलंकित नहीं करना चाहता।

इस प्रकार कह कर निश्चल मन से वे सेवा के विषम पथ पर चलने को उठ खड़े हुए और अपने नौनिहाल बालक के प्राणो की भी

परवाह न करते हुए, अन्न – जल ग्रहण किये बिना ही, अपने कुछ साथियों को लेकर चल पड़े। उन्होंने अपनी प्रचारशक्ति, शान्ति और सेवा की दृढ़भावना से उन हजारो भाइयों को विधर्मी होने से बचा लिया। मगर इस घटना से मुसलमान इतने भड़के कि उन्होने लेख–राज जी को कत्ल कर दिया।

सज्जनो ! जिन्होने सेवा का जामा पहन रक्खा है और जो सेवा के पथ पर चल रहे हैं और निस्वार्थ भाव से सेवा कर रहे है, वे किसी भी जाति के हो, किसी भी वर्ण के हो और किसी भी पन्थ के अनुयायी हो, हमे उनका उपकार मानना चाहिए। धर्मनिष्ठ पुरुषों के प्रति मनुष्यो की इतनी उदारता होनी ही चाहिए। जिन मे इतनी भी उदारता नहीं होती, उन के जीवन का उत्थान नहीं हो सकता।

सेवा करने वालों को अपने जीवन मे कही फुर्सत मिल सकती है ? नहीं। अगर लेखराज जी सोचते कि पहले भोजन तो कर लूँ, बीमार बेटे की शुश्रूषा तो कर लूँ ! और ऐसा सोच कर पुत्र के मोह मे फँस जाते और वहाँ न पहुँचते तो हजारो ही लोग धर्म से विमुख हो जाते। फिर जाने से लाभ ही क्या होता !

तो धर्म की उड़ान में मनुष्य को दृढ़ता से काम लेना चाहिए। ऐसा करने से ही वह अपने जीवन को उन्नत बना सकता है। मनुष्य

चाहे थोड़ा ही कार्य करे, किन्तु उसके जीवन का ध्येय बहुत ऊँचा होना चाहिए।

कई भारतीय और विदेशी लोग हिमालय की चोटियों की उच्चता को छूने जाते हैं। यद्यपि वे हिमालय की तलहटी में ही खड़े हैं और उसका सर्वोच्च शिखर बहुत ऊँचा है, मगर उनकी नजर तो उसी उँचाई को स्पर्श कर रही — देख रही है, जहाँ तक उन्हें अपनी यात्रा करनी है। उन के पैर भूमितल पर हैं, मगर उन की आंखें, उन की नजर और उनकी पैनी दृष्टि तो उसी उच्चतर शृंग की ओर टकटकी लगा रही है। उन का दृष्टिकोण विशाल है, उद्देश्य ऊंचा है; उन्हे हिमालय की चोटी पर पहुँचना है। यद्यपि वह एक-एक कदम आगे बढ़ा रहे हैं, मगर दृढ़ता के साथ अपने लक्ष्य की ओर ही बढ़ते चले जा रहे हैं। धीमे-धीमे चलते रहने पर भी एक समय आ सकता है कि वे अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लें और अपनी मंजिल को तय करलें। आज भी कई विदेशी काफी उँचाई तक पहुँच सके हैं। तेनसेन सरीखे विजेताओ ने इनाम भी पाये हैं और सारे विश्व से सम्मान भी पाया है।

अभिप्राय यह है कि लक्ष्य सदैव ऊँचा रखना चाहिए और भले शनैः शनैः चला जाय, मगर लक्ष्य की ही ओर बढना चाहिए; लक्ष्य की दिशा से विपरीत दिशा में नहीं चलना चाहिए।

सज्जनो ! जब भौतिक उँचाई पर विजय प्राप्त करने वाले भी आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं और इतिहास मे उनका नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित होता है, तो जो महानुभाव आध्यात्मिक उँचाई पर आरूढ़ हो कर अपनी विजय-वैजयन्ती फहराते हैं, उन का तो कहना ही क्या है ? वे प्राणी मात्र के हृदय मे अपना अमर नाम लिख जाते हैं। असंख्यात वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी उन के गुणो का गान किया जाता । काल उनकी अमर स्मृति को लुप्त नहीं कर सकता।

तो जीवन का आदर्श - लक्ष्य ऊँचा होना ही चाहिए । अपने जीवन का सिद्धांत कभी छोटा नहीं बनाना चाहिए। चाहे हम से वह आदर्श सहज मे प्राप्त न किया जा सके, फिर भी आदर्श तो ऊँचा, विशाल, महान् और भव्य ही होना चाहिए । हाँ, प्रामाणिकता के साथ, अपनी शक्ति के अनुसार, आदर्श को स्मरण रखते हुए उसी ओर बढ़ते जाना चाहिए। थोड़ा ही चलो मगर सिद्धांत की दिशा मे ही चलो। प्रतिकूल दिशा मत पकड़ो। ऐसा करोगे तो अन्ततः अपन लक्ष्य पर पहुँच कर ही रहोगें।

लक्ष्य पर चलने वाले सत्वशाली महापुरुष लक्ष्य पर आज भी पहुँच रहे हैं, पहले भी पहुँचे है और भविष्य मे भी पहुँचेगें। मगर जो लोग अपने जीवन का लक्ष्य पहले से ही क्षुद्र बनाते हैं, अपने ध्येय

का दायरा संकीर्ण रखते है, उनका भविष्य छोटी-सी टेकरी तक ही सीमित हो जाता है । वे उस टेकरी को ही अगर सर्वोच्चता समझ बैठते है तो वस उन के विकास की समाप्ति नहीं हो जाती है । वे हिमालय की हजारो फुट ऊँची चोटी को स्पर्श नहीं कर सकते, वहाँ का आनन्द नहीं उठा सकते । वे जीवन का चरम विकास प्राप्त नहीं कर सकते ।

आज बहुत-से लोग कहते हैं कि आप भगवती अहिंसा-दया की बातें तो करते हैं, मगर हम मे आज उतना सामर्थ्य कहाँ है जो हम उच्च अहिंसा के सिद्धांत का पालन कर सकें ! हमे तो पग – पग पर हिंसा का दोष लगता है । खाते-पीते, चलते-फिरते, सोते-जागते और प्रत्येक कार्य करते समय हिंसा होती है । ऐसी स्थिति में अहिंसा के महान् उच्च आदर्श का पालन किस प्रकार सभव हो सकता है ? और जब उच्चकोटि की अहिंसा का पालन हो ही नहीं सकता तो फिर उसे सिद्धांत रूप में स्वीकार कर लेने से भी क्या लाभ है ? उसका आंशिक आचरण करना भी क्या लाभजनक हो सकता है ? इस से तो यही अच्छा है कि हम अहिंसा का आदर्श छोटा ही रक्खें जिस पर पहुँचना आसान हो, संभव हो । अहिंसा के हिमालय की चोटी तो बहुत ऊँची है और वहाँ तक पहुँचना बहुत कठिन है, असंभव सा प्रतीत होता है । अतएव सिद्धांत ऐसा ही बनाया जाय जो व्यवहार में आने योग्य हो ।

इसी प्रकार अपने ज्ञान मे, दर्शन मे और चारित्र मे भी छोटे से दायरे की व्यवस्था करनी चाहिए । गहराई मे न जा कर स्थूल रूप ही सिद्धान्त बनाना चाहिए ताकि सुगमता से उस टेकरी पर पहुँचा जा सके । ऐसा करने से अहिंसा का पालन भी हो जायगा और सब के लिए वह सुसाध्य भी बन जायगी।

कहिए, क्या राय है आपकी ?

इस संबंध मे मेरा कथन यह है कि— जैसे आप बच्चे के लिए कोई वस्त्र या ज़ेवर बनवाते है तो एकदम फिट नहीं बनवाते, वरन् कुछ ढीले रखवाते हैं। यह आप की दूर - दर्शिता का परिणाम है । आप भविष्य का ख्याल करके ही ढीले वस्त्राभूषण बनवाते हैं । बच्चा आज तो छोटा है पर आगे चल कर उस के अंगोपांग विक-सित हो जाएँगे—बड़े हो जाएँगे । तब भी उस के वस्त्राभूषण काम मे आ सकें, ऐसी आप की दृष्टि रहती है । अभिप्राय यह है कि इस मामले मे आप की दृष्टि विशाल रहती है और इसी कारण आप यह सब कुछ सोचते हैं।

हाँ, हो सकता है कि इतनी दूरदर्शिता के बावजूद भी बालक उन पदार्थो का भविष्य मे उपयोग न कर सके । कोई उन पदार्थो को चुरा ले या बालक की जीवन-लीला ही असमय मे समाप्त हो जाय । किन्तु आप इस नीच विचार की कल्पना भी न करके अपना आदर्श

ऊँचा ही रखते हैं।

इसी प्रकार अहिंसा के पालन में भी आदर्श उच्च और विशाल ही होना चाहिए — हिमालय के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचने का ही लक्ष्य रखना चाहिए; कदम भले ही शनैः शनैः पड़ें। मगर जो अपने आदर्श को पहले ही छोटा बना लेते हैं, वे पूर्ण रूप से वस्तु को प्राप्त नहीं कर सकते। जिसकी दृष्टि और सृष्टि छोटी होती है, वह अपने जीवन को ऊँचा नहीं बना सकता। जो पहले से ही सिद्धांत को संकीर्ण कर लेता है अपनी अशक्ति के कारण; उस का विकास के बदले ह्रास ही होता है। उसे विशाल फल नहीं मिल सकता। वह तुच्छ फल का ही भागी होता है।

एक राजा था। वह बड़ा धर्मात्मा और अपने सिद्धांत पर अटल था। उसकी रानी भी बड़ी पतिपरायण और पति की जीवन-संगिनी थी। मगर काल की गति बड़ी ही विचित्र होती है। संयोग और वियोग प्रकृति की क्रीड़ा है। संयोग का फल निश्चित रूप से वियोग होना ही है।

संयोगों का एक मात्र फल,
केवल सदा जुदाई,

दुर्भाग्य से रानी कुछ वर्षों के बाद एक कन्या को छोड़कर चल

बसी। राजा एकाकी जीवन व्यतीत करने लगा और उस कन्या का माँ की तरह प्रेमपूर्वक—बड़े ही लाड़-प्यार से पालन-पोषण करने लगा। फिर भी अपनी पतिपरायण पत्नी के वियोग से राजा खिन्न और उदासीन रहता था। पत्नी की स्मृति उस के हृदय मे काँटे की तरह चुभने लगी। वह गुमसुम बना रहता।

राजा की यह दशा देख कर उस के कर्म-चारियो ने कहा—महाराज! आप दूसरी शादी कर लीजिए। इस से आप के जीवन मे नयी रोशनी-ताजगी-आ जायगी और कुमारी का पालन-पोषण भी समुचित रीति से होने लगेगा। उसे मातृप्रेम भी प्राप्त हो सकेगा।

राजा ने कहा—पहली वाली बात अब नहीं रही। इस स्थिति मे शादी करने से मेरी और बच्ची की मिट्टी ही पलीद होगी। वह शादी नहीं, बरबादी होगी। अब तो मुझे शान्ति से ईश्वरभजन करते हुए बच्ची की सेवा मे ही समय गुजारने दो। विषयवासना कभी पूर्ण होने वाली नहीं है। मेरे कुल की तथा राज्य की शान इसी मे है कि मैं ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अपना शेष जीवन निराकुलता-पूर्वक व्यतीत करूँ। कामभोग से कभी कामाग्नि शान्त नहीं हो सकती।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन।

मगर आज तो लोग शादी पर शादी करते ही चले जाते हैं। उन्हे तप्ति नहीं होती, सन्तोष नहीं होता और अपनी अवस्था का विचार तक नहीं होता।

सज्जनो! एक जाट ने नयी शादी की। वह नयी पत्नी दही विलो रही थी और उस क्रिया में उस का सारा अंग हिल रहा था। वह जाट यह दशा देख कर बड़ी खुशी का अनुभव करने लगा मस्ती मे झूमने लगा। पत्नी को सुना-सुना कर गाने लगा— 'मेरी नवमी नाचे जो, मेरी नवमी नाचे।' यह गान उस की नयी-नवेली ने सुना तो उसे क्रोध का तरारा आ गया। अपना अपमान समझ कर उसने प्रतिकार करते हुए कहा—

> मैं कहु ंगी तुम सुनो गे, तुम्हें आयेगी रीस
> तुम मरो गे मैं करू ँगी अब के पूरे बीस।

अर्थात्— तू क्या घमड कर रहा है कि मैंने नवमी शादी की है। तुम तो उन्नीसवें हो— अठारह को तलाक दे कर तुम्हारे पास आई हूं। तुम मरोगे तो मैं बीसवां धनी बनाऊँगी।

भद्र पुरुषो! जिस जाति में ऐसे - ऐसे जती - सती इकट्ठे हो जाएँ, उस जाति और समाज का कल्याण होने मे क्या देर हो सकती है! कितने परिताप का विषय है कि आज भी सत्तर वर्ष के बूढ़े

अपनी पौत्री के समान बारह वर्ष की कन्या को व्याहने के लिए मस्तक पर मोड़ बाँध कर दूल्हा बनते हैं ! शादी करते हुए उन्हें लज्जा नहीं आती। यह समाजिक अन्याय और अत्याचार नहीं तो क्या है ? समाज मे आज भी अनमेलविवाह, वृद्धविवाह और बाल-विवाह हो रहे हैं ! इसी से समाज मे अन्याय, अत्याचार, व्यभिचार, बलात्कार, अपहरण और दुराचार का वातावरण फैलता है।

तो मै उस राजा का जिक्र कर रहा था। वह वास्तव में राजा के गुणो से सम्पन्न था । अतएव उसने अपने वजीरो और मित्रो के प्रस्ताव को ठुकरा दिया और उसने सन्तोषमय जीवन व्यतीत करने का ही दृढ निश्चय कर लिया। उस ने सोचा यदि जीवनसंगिनी का चिरसंयोग रहने वाला होता तो वह बिछुडती ही क्यो ? इस प्रकार विचार कर वह अपनी बच्ची का माता के समान पालन करने लगा।

आज तो किसी वृद्ध अथवा अधेड़ पुरुष के छोटे बच्चे होते है तो उसे दूसरा विवाह करने का बढ़िया बहाना मिल जाता है। काम-वासना का पोषक वह पुरुष कहता है— क्या करूँ ! मेरा विचार तो विवाह करने का नहीं है, मगर इन छोटे बच्चो के पालन-पोषण के लिए विवाह करने को विवश हूँ ! कोई दूसरा रास्ता ही नही दीखता !

अरे भले मानस ! तुझे यह पता नही है कि तेरा मन तो हराम में जा रहा है और नाम लेता है बच्चों के पालन – पोषण का ! तू अपने को धोखा नहीं दे सकता, भले ही झूठ बोल कर दुनिया को ठगने का प्रयत्न करे।

हाँ, तो वह राजा एक दिन सैर करने जंगल मे गया तो सौभाग्य से उसे वृक्ष के नीचे एक बच्चा पड़ा मिल गया । उस ने बच्चे को देखकर बड़ी प्रसन्नता से उठा लिया और अपने महल मे ले आया। बड़े अच्छे ढंग से वह उसका पालन – पोषण करने लगा। राजा ने सोचा— यह बहुत उत्तम हुआ कि मुझे अपने शासन का उत्तराधिकारी भी सहज ही में प्राप्त हो गया। बड़ा हो जाने पर इसी से अपनी लड़की की शादी कर दूँगा। इस प्रकार दोनों का भविष्य सुखमय हो जायगा।

राजा उस लड़के को पुत्रवत् खिलाता - पिलाता और व्यवहार करता था। वह उसे वीरो की गाथाएँ सुना-सुना कर उस मे वीरत्व के और राजत्व के संस्कार भरने लगा।

लड़का धीरे-धीरे बड़ा हो गया। वजीरो ने और राज्याधिका-रियों ने सोचा - एक दिन राजा इसे अवश्य ही राज्य का उत्तराधि - कारी घोषित कर देंगे और राजकुमारी का विवाह भी इस के साथ ही

कर देंगे। मगर यह जंगल में से उठाकर लाया हुआ लड़का है। इस के गोत्र का, जाति का और वंश का कुछ पता नहीं है! हमारे लिए यह बात अत्यन्त असहनीय होगी और यह दुःख का विषय होगा कि हमे भी इसे अपना राजा मान कर सिर झुकाना पड़ेगा और इस का सत्कार सन्मान करना होगा! तो फिर ऐसा कोई षड्यंत्र क्यों न रचा जाय कि न रहे बांस और न बजे बांसुरी। अर्थात् यह यहाँ से चला जाय और हमें इस की आज्ञा मानने का अवसर न आवे और न इस के आगे मस्तक झुकाना पड़े!

बस, उन्होंने अपना दिमागी चक्र घुमाना आरम्भ किया। जब कभी लड़का घूमता - फिरता उन के पास पहुँच जाता तो वे उस से पूछते— तुम कौन हो? लड़का निर्भयता से उत्तर देता— मै राजकुमार हूँ।

एक दिन उन्होंने लड़के से कहा— तुम वास्तव में राजा के पुत्र नहीं हो। राजा तुम्हे जंगल से उठा कर ले आये हैं।

यह सुन कर लड़का शंकाशील हो गया। तब दूसरों ने भी कहना आरम्भ किया— हाँ, हाँ, राजा साहब इतने वर्ष पहले तुम्हें अनाथ समझ कर जंगल से उठा लाये थे। उन्होंने तुम्हारा पालन - पोषण कर दिया है। यही बहुत समझो। याद रखना, राजकुमार बनाने की बात बिल्कुल मिथ्या है। तुम राज्य के उत्तराधिकारी नहीं

वनाये जाओग । कुछ समय के पश्चात् यदि स्वेच्छा से न चले गये तो धक्के दिलवा कर निकाल दिये जाओगे । राजा साहव तुम्हें निकाल भगाने का वडा षड्यंत्र रच रहे हैं ।

दूसरे ने कहा— हमारी वात मानों और इज्जत वचाना चाहो तो तुम महाराजा से कुछ सम्पत्ति और रहने के लिए मकान माँग लो, वर्ना एक न एक दिन दुर्दशा तो होनी ही है !

इन लोगो की वातें सुन कर लड़के के हृदय में पूर्ण रूप से दासत्व की भावना उत्पन्न हो गई । वह आत्मगौरव का भाव उस में नहीं रहा । वह निराश हो गया और अपने को असहाय अनुभव करने लगा ।

सज्जनों ! उस लड़के को कहना चाहिए था कि— मैं राजकुमार हूँ और महाराज मुझे अवश्य ही अपना उत्तराधिकारी वनाएँगे । तुम सब झूठे हो और मुझे वहका कर मेरा सर्वनाश करना चाहते हो । चलो, हटो, मेरे सामने से दूर हो जाओ । किन्तु वह अपने उदात्त भावो की सीढ़ी से गिर कर दासत्व की पहली सीढ़ी पर आ गया ।

लड़का सोचने लगा— मैं वास्तव मे ही एक अनाथ वालक हूँ और कभी भी राज्य का अधिकारी नहीं वनाया जा सकता । मेरे

साथ सब धोखा ही धोखा हो रहा है । अन्ततः मुझे अपमानित हो कर निकलना पड़ेगा । तो फिर मैं क्यों न पहले ही सावधान हो कर कुछ लाभ उठा लूं !

सज्जनों ! सब ने मिल कर उसे उल्लू बना दिया और चक्कर में डाल दिया । उस के ऊपर वहम का भूत सवार हो गया । वह निर्भीक के बदले भीरु बन गया ।

दुनिया बड़ी जबर्दस्त है । यह परमात्मा को भी ठगने मे कोई कसर बाकी नहीं रखती । उस लड़के में दैन्य भाव आ गया । वह मुहर्रमी शक्ल बना कर राजा के पास गया और गिड़गिड़ा कर कहने लगा— हजूर ! मैं आप के पास कुछ भीख माँगने आया हूँ ।

राजा ने उसकी रोने जैसी शक्ल देख कर कहा– क्यो, मामला क्या है ? आज उदास क्यों दीखते हो ?

लड़के ने अपनी दास्तान सुनाते हुए कातर वचनों में कहा— आप की बड़ी दया हुई कि आप मुझे राजमहल में ले आये और मुझे अपना लड़का समझ कर मेरा पालन-पोषण करते रहे । अगर मैं वहीं पड़ा रहता तो न जाने क्या दशा होती? किन्तु आप के चरण-कमलो मे मेरी यही प्रार्थना है कि आप जीवन – निर्वाह के लिए मुझे कुछ सम्पत्ति और शरीर को सुरक्षित रखने के लिए एक झोंपड़ी दिलवा

दें। हो सके तो किसी दासी के साथ मेरी शादी भी कर दें, ताकि मैं आराम से अपना जीवन विता सकूं।

राजा ने लड़के के मुख से यह नवीन बात सुनी तो उसे बहुत आश्चर्य हुआ। उसने सोचा– यह हतभाग्य जान पड़ता है जो वीरता की इतनी बातें सुन-सुन कर भी वीर न वन कर दासता में ही रहना स्वीकार करता है। खैरियत हुई कि यह गुल पहले ही खिल गया और मेरे कुल की इज्जत और मर्यादा नष्ट होने से बच गई।

सज्जनो! उस लड़के ने राजकुमार की हैसियत में भी अपने सिद्धांत को भुला दिया और अपने ऊँचे आदर्श को छोटा बना लिया। कहाँ तो राजा उसे अपना उत्तराधिकारी बना कर राज्य का स्वामी बनाना चाहता था और कहाँ वह दस – बीस हजार लेकर ही संतोष प्राप्त करना चाहता है और राजप्रासाद के बदले छोटे–से मकान को ही स्वर्ग समझ रहा है। कहाँ तो राजा अपनी राजकुमारी का विवाह उस के साथ करने को उद्यत था, और कहाँ वह दासी को पत्नी बना कर ही अपने आपको सौभाग्यशाली मानने को तैयार है।

राजा ने उस की इच्छा के अनुसार सम्पत्ति, मकान और दासी दे दी। मगर वह राजकुमारी से और राज्य से वंचित हो गया। इस का एक मात्र कारण यही था कि उस ने अपने सिद्धांत को, अपनी

मानसिक दुर्बलता के कारण छोटा बना लिया था। वह जीवन से हताश और निराश हो गया था। वह सोचने लगा था कि–मै राज्य प्राप्ति के हिमालय पर आरूढ़ नहीं हो सकता। वह चढ़ना अवश्य चाहता था, चढ़ने का उसने प्रयत्न भी किया, मगर उस के साथियो ने टांग पकड़ कर नीचे पटक दिया। गिरने के पश्चात् भी उस ने अपने को नहीं सँभाला। वह होश मे नहीं आया। उस मे कायरता बढ़ती गई। इस कारण उस का सिद्धांत छोटा हो गया और उसी के अनुरूप वह अपना विकास कर सका। उस ने अपने साथियो पर विश्वास कर लिया, अतएव उसे झौंपड़ी और दासी को ही प्राप्ति हुई।

सज्जनो! अगर वह लड़का विशाल दृष्टि-कोण पर कायम रहता और साथियों की कपटपूर्ण बातो पर विश्वास न कर के अपने आप को राज कुमार समझते हुए वीरता का परिचय देता और उन्हें ललकार देता, तो उसे राज कुमारी भी प्राप्त होती और राज्य भी प्राप्त हो जाता। उसका जीवन ही कुछ का कुछ बन जाता।

तो आशय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना आदर्श हिमालय की चोटी को छूने का ही बनाना चाहिए; अर्थात् खूब ऊँचा ही रखना चाहिए। मनुष्य को विश्वास होना चाहिए, दृढ़ श्रद्धा और अटल विश्वास होना चाहिए कि पूर्वकाल मे अगर कई महा पुरुष उस उच्च-तम हिमालय शिखर पर पहुँचे हैं तो मैं क्यो नहीं पहुँच सकूंगा ?

भद्र पुरुषो ! अगर उच्च आदर्श को लेकर दृढ़ता के साथ कदम पर कदम रखते जाओगे तो एक दिन अवश्य ही उस लोकोत्तर राजकुमारी– मुक्ति को और राजमहल– सिद्ध-शिला को प्राप्त कर सकोगे। अगर मोक्ष प्राप्त करना चाहते हो तो अपना जीवनलक्ष्य ऊँचा बनाओ, अहिंसा पालन का बनाओ। दिव्य और पावन लक्ष्य आप को कल्याण की ओर ले जायगा। अगर आप उच्च अहिंसा - सिद्धांत पर चलोगे तो आप को शिवरमणी की प्राप्ति अवश्य होगी और अक्षय सुख से परिपूर्ण अलौकिक महल भी प्राप्त होगा। किन्तु यदि अहिंसा के सिद्धांत को नीचा बना लिया तो स्मरण रखिए, आप को दासी ही मिलेगी, रानी नहीं। और दासी का पति दास ही कहलाएगा, राजा नहीं कहला सकता।

दोनों पहलू मैं ने बतला दिये हैं। अब जैसी आप की मर्जी हो वैसा कीजिए। जो बनना चाहें, वही बनना आप के अधिकार मे है। अगर ठाकुर बनना है तो अपने आचार और विचार को ऊँचा बनाओ; ऐसा करने से राजकुमारी (मुक्ति) मिल जायगी। नीचे विचार रखोगे तो दासी भी तैयार है- अर्थात् भौतिक सम्पत्ति मिल जायगी।

इसलिए मेरा कहना है कि अपना प्रिंसिपल–ध्येय-लक्ष्य-विचार सदैव उच्चतर रखिए और उसी के अंतिम छोर तक पहुँचने का संकल्प करते रहिए। इस से एक दिन आएगा कि आप अपने लक्ष्य तक

पहुंच सकोगे।

तुम सिद्धांत मत काटो किन्तु मंजिल काटने का प्रयत्न करो। पूर्ण विश्वास और हौसले के साथ कदम बढ़ाये जाओ।

इस प्रकार जो पुण्यशाली जीव उच्च विचार रख कर सुदृष्टि वाले की सेवा करते हैं और अपने जीवन को प्रकाश की ओर ले जाते हैं, वे अनन्त सुख के भागी होते हैं और संसार समुद्र को पार कर जाते हैं।

ब्यावर
२३-८-५६)

॥ ६ ॥

कुदृष्टि वर्जना

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः, सिद्धाश्चासिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराःपूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्त सुपाठका मुनिवरा रत्न त्रयाराधका
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

भद्र पुरुषो !

आप को बतलाया जा चुका है कि समकित प्राप्त आत्मा का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह परम-अर्थ की स्तुति करे और ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप तथा नव तत्त्वो आदि की स्तुति करे। इनकी स्तुति करने से सम्यक्त्व मे उज्ज्वलता आती है। जो सुदृष्टि वाली आत्माएं हैं,

सन्मार्ग पर चलने वाली आत्माएँ हैं, और दूसरो को सत्पथ पर चलाने वाली आत्माएँ हैं, उनकी सेवा करनी चाहिए। उन की सेवा करने से हमें भी उनका अनुकरण करने का सौभाग्य प्राप्त होगा।

शास्त्रकारों ने तस्वीर के दोनों पहलू बतला दिये हैं कि जो आत्माएँ सम्यग्दृष्टि और चारित्रशील हैं, उनका सत्संग और सेवा करने से एकान्त लाभ ही लाभ होगा। यदि तुम चन्दन के वृक्ष के पास बैठोगे तो सुगन्ध ही आएगी और उस का सेवन करोगे अर्थात् उसे घिस कर लगाओगे तो शरीर में शीतलता आएगी। इसके विपरीत यदि कौंच वृक्ष के पास बैठोगे तो सुगन्ध भी नहीं आएगी और उसका फल शरीर पर लग जाने से खुजलाते - खुजलाते परेशान भी हो जाओगे। किसी कवि ने कहा है—

दुर्जनों की संगति कर, खूब आनंद लूटिये।
कौंच फल ले हाथ में रो–रो के मस्तक कूटिये॥

दुर्जन की संगति करने से क्या लाभ मिलेगा ? कौंच को फलियो को हाथ में लोगे तो माथा कूटोगे और खुजलाते २ परेशान हो जाओगे। अतएव ज्ञानी जनो ने कहा है कि दुर्जनों से प्रत्येक को बचना चाहिए और धार्मिक पुरुषो को संगति तथा सेवा करनी चाहिए, जिससे तुम्हे लाभ की प्राप्ति हो।

इस के पश्चात् शास्त्रकार सम्यक्त्व की पुष्टि का एक और कारण बतलाते हुए फर्माते हैं— 'वावण्ण कुदंसणवज्जणा।' अर्थात् जिन्होने समकित को वमन कर दिया है और जो मिथ्यादृष्टि हो चुके हैं, उन की संगति नहीं करनी चाहिए। जिस मनुष्य को वमन हो रहा हो, उसके पास बैठने की किसी को इच्छा नहीं होती — तबियत नहीं चाहती। वह व्यक्ति घृणित प्रतीत होता है और उसके वमन के कारण ज़मीन भी अपवित्र हो जाती है। वमन करने वाला व्यक्ति यत्र तत्र कहीं भी बैठता है, उस स्थान को और अपने पहने हुए तथा दूसरो के भी वस्त्रों को खराब दुर्गन्धमय कर देता है। अतएव समझदार मनुष्य उस के कीटाणुओं से बचने के लिए दूर ही रहता है।

इसी प्रकार जिसने पहले समकित रूपी खीर–खांड का भोजन किया था, फिर मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदय से उस का वमन कर दिया, अर्थात् सत्य श्रद्धान का परित्याग कर दिया; इस प्रकार की श्रद्धाभ्रष्ट तथा चारित्रभ्रष्ट जो आत्मा है, उस से सदा बचना चाहिए। कौन नहीं जानता कि हैजा, टी. बी. (क्षय) आदि संक्रामक रोगों के कीटाणुओं से जो मनुष्य बचता नहीं है और जो ऐसे रोगों से ग्रस्त बीमारों का स्पर्श अथवा संसर्ग करता है, उसे भी वही बीमारी लग जाने की संभावना रहती है।

जो आत्मा श्रद्धा भ्रष्ट हो चुकी है वह स्वयं तो भ्रष्ट है ही,

दूसरों को भी मिथ्यात्व के रोग से ग्रस्त कर देती है। मिथ्यात्व के कीटाणु बहुत प्रबल होते हैं और साथ ही अत्यन्त भयंकर भी। अतएव मिथ्यादृष्टियों की संगति न करने के लिए कहा गया है।

हां, इस सम्बन्ध में एक अपवाद अवश्य है। वह यह कि यदि किसी में इतनी शक्ति हो कि वह भयंकर संक्रामक बीमारी के कीटाणुओं से अपने आपको बचा लेगा और बीमार को सही राह पर ला कर उस की बीमारी को भी मिटा देगा तो उस के पास जाने में एतराज जैसी कोई चीज नहीं है। डाक्टर प्रत्येक संक्रामक बीमारी वाले रोगी के पास जाता है और वह संक्रामक बीमारी के कीटाणुओं के विरोधी साधनों से लैस रहता है, जिससे कीटाणुओं का उस पर असर नहीं होता। मगर डाक्टर का उद्देश्य अपने कर्त्तव्य का पालन करना है। वह चाहता है कि किसी प्रकार रोगी तन्दरुस्त हो जाय और उस की बीमारी का अन्त हो जाय। इस दृष्टिकोण को ले कर पूरी तैयारी के साथ डाक्टर जाता है तो कामयाब हो कर लौटता है। कदाचित् कामयाब न हो तो भी कम से कम स्वयं उन कीटाणुओं का शिकार हो कर नहीं आता।

इसी प्रकार हमें भी पापी से पापी और अधर्मी से अधर्मी मनुष्य के पास भी जाना होगा, किन्तु अपने मजबूत विचारों के साथ और उस के कल्याण की कामना को लेकर जाना होगा। इस प्रकार

हम यदि डाक्टर बन कर और रोगी को रोगमुक्त करने की भावना से जाएँगे और सतर्क एवं सावधान रहेंगे तो सुरक्षित रह सकेंगे। यदि तनिक भी असावधानी की तो निमित्त मिलते ही कर्मों का उदय होने पर उस रोग मे फँस जाएँगे।

अतएव यदि आप मे इतनी योग्यता है कि अपने ऊपर उस रोग का असर नहीं होने दोगे, तब तो जाने में कोई हानि नहीं है; अन्यथा याद रखिए, लेने के देने पड़ जाएँगे।

भद्र पुरुषो ! इस लिए करुणाकर शास्त्रकारो ने कहा है कि जिन्होने समकित रूपी आरोग्य का वमन कर दिया है और जिन्हे मिथ्यात्व रूपी राजयक्ष्मा का संक्रामक रोग लग गया है, उनसे सावधान रहो और उनके संसर्ग मे मत जाओ। अन्यथा तुम्हारे ऊपर भी उस रोग का आक्रमण हो जायगा। हाँ, उन्हें जाने की आज्ञा है जो उन से सावधान रह सकें, जो स्वयं उन से प्रभावित न हो कर अपनी प्रकृष्ट श्रद्धा से उन्हीं को प्रभावित कर सकें।

यही सम्यग्दृष्टि का साधन है कि वह खोटे पुरुष का संसर्ग न करे और सम्यक् श्रद्धान वाले के समीप हो जाय। ऐसा करने से उन को लाभ होगा। खोटे पुरुष की संगति दूसरो को हानि करने वाली होती है। यह केवल जैनमत की ही मान्यता नहीं है, बल्कि एक सर्व-

सम्मत सचाई है। प्रत्येक मजहब वाले यही कहते हैं कि खोटे से दूर रहो। इसी मे तुम्हारी भलाई है।

फिर भी जैन शास्त्रो ने इस बात पर बहुत जोर दिया है कि खोटे श्रद्धान वालो से सदैव बचते रहो। मनु जी ने भी यही बात कही है। जो मर्यादा का निर्माण करते हैं, वे मनु कहलाते हैं। हमारे शास्त्रों में पन्द्रह कुलकरो का वर्णन आया है; वही कुलकर वैदिक सम्प्रदाय मे मनु के नाम से प्रसिद्ध हैं। अभिप्राय यह है कि जो मानव जाति के लिए धाराधोरण और विधान बनाते हैं, वही मनु कहलाते हैं। इस प्रकार 'मनु' यह किसी एक व्यक्ति का नाम नहीं, वरन् पद है।

मानव समाज के लिए मर्यादाओ का पालन अनिवार्य है। मर्यादा विहीन समाज रह नहीं सकता, कम से कम सुख और शान्ति के साथ तो रह ही नहीं सकता।

चलने के लिए कोई न कोई मार्ग निर्धारित करना ही पड़ता है, अंधाधुंध नहीं चला जा सकता। तो हमारे महापुरुष कुलकरो ने अथवा मनुओ ने जो उचित मर्यादाएँ बांधी हैं, वे बड़ी ही चतुराई और बुद्धिमत्ता के साथ बाँधी हैं। सच्ची मर्यादा वही है जो पारस्परिक विरोध उत्पन्न न करे, एक दूसरे धर्म से टक्कर न खावे। धारा

अविरुद्ध होनी चाहिए । वही कानून, नियम और विधान उपयोगी होता है, जिस से मनुष्यजाति, राष्ट्र एवं देश का तथा धर्म का विकास हो, उत्तरोत्तर उन्नति हो। वही मार्ग श्रेष्ठ है जो पथिक को आगे ने आगे ले जाय और वह मार्ग ठीक नहीं है जिस पर दस-बीस कदम चल कर ही गड़बड़ में पड़ जाना पड़े ।

हां, मैं एक बात अवश्य कहूंगा । जैन कुलकरों और जैनेतर मनुओं में कुछ फर्क पाया जाता है। जैन कुलकरो द्वारा निर्धारित मार्ग संकीर्ण नहीं है, जिस से कि उस पर चलने वाला पथिक आगे जाकर रुक जाय और फिर कोई मार्ग ही न मिले। वे कुलकर साधारण ज्ञान वाले नहीं थे; अवसर और परिस्थिति के विशेषज्ञ थे। आखिर वह मकान ही क्या जिसका कोई रास्ता न हो, द्वार न हो। उन्होंने लौकिक मर्यादाएं बांधी तो धर्म के क्षेत्र के लिए भी मार्ग खुला रक्खा।

लौकिक मर्यादाएं कुछ और हैं और लोकोत्तर मार्ग की मर्यादाएं और हैं। दोनों प्रकार की मर्यादाओं को समझ कर उनके अनुसार चलने से ही जीवन सफल होता है । जिस के जीवन मे कोई मर्यादा नहीं है, जो मनुष्य बिना किसी सिद्धांत के चलता है, वह भटक जाता है।

जैन कुलकरों ने जिन मर्यादाओं का निर्माण किया, उनमे इस

बात का पूरा– पूरा ध्यान रखा गया कि लौकिक मर्यादाएँ ऐसी हो जिन का लोकोत्तर मर्यादाओ के साथ कोई विरोध न हो; बल्कि वे लोकोत्तर मर्यादाओ में सहायक हो। उन्होने धर्म के क्षेत्र मे सब को समान अधिकार दिया। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र – सब के लिए आध्यात्मिक प्रगति का मार्ग खुला रक्खा। उन्होंने यह नहीं कहा कि शूद्र यदि वेदपाठ करे तो उसको जीभ काट लो और वेद – श्रवण कर ले तो उस के कानो मे गरम – गरम शीशा उँडेल दो। ब्राह्मण के सिवाय किसी दूसरे को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है। इस प्रकार की रुकावटें उन्होने नहीं खड़ी कीं। इस प्रकार की पक्ष–पात पूर्ण मर्यादाएँ बनाना कहाँ तक उचित है, यह बात आप भी समझ सकते हैं और इस विषय मे अपना निर्णय भी दे सकते हैं। आज के युग मे इन तथ्यहीन मर्यादाओ का पर्दा फाश हो चुका है और वह भंग हो चुकी हैं।

अरे दुनिया के लोगो! तुम ईश्वर को जगत् का पिता मानते हो तो विश्व के समस्त प्राणी उसकी सन्तान हैं। जब तुम ऐसा कहते हो तो वह ब्राह्मणो का ही पिता नहीं है, ब्राह्मणो, क्षत्रियो और वैश्यो का ही पिता नहीं है, वह शूद्रों का भी पिता है और इस से भी आगे बढ़ कर पशुओं और पक्षियो का भी पिता है। इस प्रकार वेदज्ञान ईश्वरीय ज्ञान है और ईश्वर सारे जगत् का पिता है, तो सारा ही

जगत् उसकी सम्पत्ति का अधिकारी होना चाहिए। हाँ, यह होता है कि अगर कोई पुत्र कपूत हो जाता है तो पिता उसे पृथक् कर सकता है और अपनी उपार्जित सम्पत्ति का अनधिकारी करार दे सकता है। मगर जो पुत्र सपूत हो— पिता की सेवा करता हो, आज्ञा का पालन करता हो क्या उसे भी वह अधिकार से वंचित कर सकता है? वह पिता ही नहीं जो अपने सपूत बेटे को उस के न्यायसंगत अधिकार से वंचित करता है!

यह कहाँ का न्याय है कि जो बेटा जुआरी, शराबी, कबाबी, रंडीबाज और भ्रष्टाचारी हो, उसे तो सिर्फ अमुक वर्ण—ब्राह्मण—होने के कारण अपनी सम्पत्ति का अधिकारी माने और वेद पढने का अधिकार देवे; किन्तु एक शूद्र को, जो सदाचारी, आज्ञानुवर्त्ती और सेवाभावी है, वेद पढने का अधिकार न दे। जो पिता इस प्रकार का पक्षपात करता है, वह सरासर अन्याय करता है। उसे आदर्श पिता नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः ऐसा पिता, पिता कहलाने का अधिकारी नहीं है।

किन्तु हमारे त्रिकालज्ञ कुलकरो ने तो धर्म साधना करने में चारो वर्णों को समान अधिकार प्रदान किया है। यद्यपि आज जैनियो मे भी संसर्गदोष से ऐसी ही विकृति आ गई है, मगर उसे सैद्धान्तिक

दोष नहीं कहा जा सकता। वह व्यक्तिगत दोष है और व्यक्तिगत दोषो का निवारण सहज ही हो सकता है। हाँ, सैद्धांतिक दोषो का परि- मार्जन होना और दूर होना मुश्किल होता है और वे दोष बहुतों को बिगाड़ते हैं। सब से बड़ी कठिनाई तो यह है कि लोग उन दोषो को दोष ही नहीं समझते, इस कारण उन्हे दूर करने का प्रयत्न भी नहीं करते।

तो अनेक कारणो से जैन समाज मे भी भ्रान्ति का भूत घुस गया है। आज कुछ जैन भी ऐसे हैं जो शूद्रो को अन्य वर्णों के समान अधिकारो का पात्र नहीं समझते, यहाँ तक कि मोक्ष का भी अधिकारी नहीं मानते। वे कितनी ही धर्माराधना करें, उन्हे मोक्ष प्राप्ति नहीं हो सकती। परन्तु हम देखते हैं कि जिन-जिन भौतिक पदार्थों मे जो जो गुण हैं वे सभी के लिए समान हैं। जो कोई भी उनका सेवन करता है, वे सब को समान लाभ पहुँचाते हैं। यह नहीं कि अमुक पदार्थ सेवन करने पर ब्राह्मण को तो लाभ होगा, पर शूद्र को नहीं होगा। भोजन समान रूप से सब को भूख मिटाता है और औषध सब वर्ण वालो को एक-सा लाभ पहुँचाती है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री, पुरुष जो कोई भी औषध का सेवन करता है, सब को बीमारी दूर होती है। औषध वर्णभेद से किसी प्रकार का भेद नहीं करती। हाँ, औषध मे असर होना चाहिए और वह रोग के अनुकूल होनी चाहिए।

ऐसा होने पर वह समान रूप से अवश्य आरोग्यता प्रदान करती है।

वस्त्र सब की नग्नता को ढँकता है और समान भाव से सर्दी-गर्मी-वर्षा से रक्षण करता है। अरे, यह जड़ पदार्थ भी जब मनुष्य-मनुष्य के मध्य भेदभाव नहीं करते और मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्त्ति समान रूप से करते हैं, बन कर बिगड़ जाने वाले पदार्थों मे भी दुई भाव नहीं है और वे समान लाभ पहुँचाते हैं, अपने धर्म—गुण—को नहीं छोड़ते, तो धर्म जैसा सर्वोत्कृष्ट पदार्थ किसी भी प्राणी के प्रति विषमभाव कैसे रख सकता है ?

आप कहोगे कि धर्म क्या परमात्मा से भी ऊँचा है ? अगर ऊँचा है तो कैसे ? मैं प्रत्युत्तर में कहूँगा— परमात्मा परमात्मपद में किस स्थिति मे है ? सज्जनों ! जो परमात्मा है, सत्-चित्-आनन्द-मय है, निरजन निराकार निर्विकार है और जिस में यह ईश्वरीय गुण विद्यमान हैं, वही इन गुणों के कारण परमात्मा कहलाता है। आकाश में यह जो गोल — गोल दिव्य प्रकाशमय आग्नेय चक्र घूम रहा है, जिसे सूर्य कहते हैं, यह सूर्य क्यों कहलाता है ? यदि इस में दिव्य तेज न हो तो कौन इसे सूर्य कहेगा ? प्रकाश और तेजस्विता रूप धर्म होने के कारण ही यह सूर्य कहलाता है और इसी से हमारे जीवन संबंधी अनेक दैनिक कार्य चलते हैं। सूर्य मे तेज और प्रकाश

रूप सूर्य धर्म न हो तो उसे कोई सूर्य नहीं कहेगा और न उस से सूर्य का कार्य हो सकेगा। इसी प्रकार हम ईश्वरीय गुण रूप धर्म ईश्वर मे होने के कारण ही परमात्मा को परमात्मा कहते हैं। जिस के पास धन न रह गया हो, उसे लोग दिवालिया घोषित कर देते हैं। इसी प्रकार जिस मे ईश्वरीय गुण रूप धर्म नहीं हैं, उसे कोई परमात्मा कह भी दे या मान भी ले तो क्या वह परमात्मा वास्तविक होगा? नहीं, वह इमीटेशन–बनावटी या वैजीटेबल परमात्मा होगा! परमात्मा इतनी सस्ती चीज नहीं जो बाजार मे किसी भाव मोल मिल सकता हो। किसी के कहने या मानने से कोई परमात्मा नहीं हो जाता। कोई किसी कंगाल को करोड़पति कह दे तो वह वास्तविक करोड़पति नहीं बन सकता। सच्चा करोड़पति तो वही कहलाएगा जिस के पास करोड़ की धनराशि होगी। इसी प्रकार चाहे मन से एक में नहीं, हजारो – लाखों आकारो में परमात्मा की कल्पना कर लो, किन्तु वह वास्तविक परमात्मा नहीं हो सकता। और तुम उस कल्पना ही कल्पना मे असंख्य जीवन व्यतीत कर दोगे तो भी कल्पित परमात्मा से कोई सिद्धि प्राप्त न होगी। आखिर कल्पना तो कल्पना ही है!

तात्पर्य यह है कि परमात्मा का परमात्मत्व उस के गुणधर्मो पर निर्भर है। परमात्मिक गुणो के कारण ही परमात्मा, परमात्मा

कहलाता है। इस प्रकार परमात्मा को परमात्मपद प्रदान करने वाले उस के गुण हैं। अतएव धर्म परमात्मा से भी उत्कृष्ट है।

तो आज जैन समाज में भी कई प्रकार की भ्रान्त धारणाएँ फैल गई हैं। उन भ्रान्त धारणाओ को दूर कर देना आवश्यक है। मै कह रहा था कि मनुष्य के बनाये हुए भोजन वस्त्र आदि जो जड़ पदार्थ हैं वे भी सब को समान रूप से लाभ पहुँचाते है तो धर्म जैसा अनमोल पदार्थ, जिस की बराबरी का कोई भी पदार्थ नहीं है, अगर असमान रूप हो जाय, पक्षपात करने लगे और भेद-भाव का आश्रय ले, तो जगत् में प्रलय हो जाय। किन्तु गनीमत यही है कि ऐसा होता नहीं है।

जो लोग शूद्रों और स्त्रियों को वेदपठन या मुक्ति का अधिकारी स्वीकार नहीं करते, उनका कहना है कि स्त्री गंदी और मलीन होती है और शूद्र भी अशुद्ध रहता है, अतएव वे मोक्ष के अधिकारी नहीं। किन्तु जिस रुधिर और वीर्य से ब्राह्मण के शरीर का निर्माण हुआ है, उसी से शूद्र और स्त्री के भी शरीर का निर्माण होता है। फिर क्या कारण है कि उन मे से किसी को शुद्ध और किसी को अशुद्ध मान लिया जाय? शरीरशास्त्र की दृष्टि से स्त्री और पुरुष के निर्माण मे– उस के उपादानों में कोई अन्तर नहीं है। दोनो के शरीर हाड़, मांस

और रुधिर से बने है । यह तो नहीं कहा जा सकता कि किसी का शरीर रक्त मांस से और किसी का सोने—चांदी से बना है ! ऐसी स्थिति मे वर्ण के आधार पर धार्मिक अधिकारो मे भेद करना युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता ।

मोक्ष का अधिकारी वही है जो ज्ञानपूर्वक करनी करता है । फिर चाहे वह ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो अथवा शूद्र हो, चाहे स्त्री या पुरुष हो । मुक्ति प्राप्त करने का सब को समान अधिकार है। इस नैसर्गिक अधिकार को कोई किसी से छीन नहीं सकता। अलबत्ता मोक्ष की प्राप्ति उसी को होगी जो अपनी योग्यता का विकास करेगा।

जैन तीर्थंकरो ने लौकिक और लोकोत्तर दोनो प्रकार की मर्यादाएँ बांधी हैं। उन्हों ने यह कदापि विधान नहीं किया कि शूद्र शास्त्र का अध्ययन नहीं कर सकता या सुन नही सकता । भद्र पुरुषो ! जो धर्मसंस्कारहीन कुल में उत्पन्न हुआ है, उस का अपने कुल के संस्कारो की वजह से धर्म के सन्मुख होना ही कठिन है, तिस पर यदि उसे शास्त्र सुनने का भी अधिकार न दिया गया तो कैसे उस का कल्याण हो सकता है ? पानी गंदे कपड़े धोने और शरीर का मैल दूर करने के लिए है। औषधि व्याधि का निवारण करने के लिए है । मगर यहां तो बात ही उलटी हो रही है । पानी की उपयोगिता साफ-सुथरे वस्त्र के लिए बतलाई जा रही है । यह कहां तक उचित है, जरा

विचार तो कीजिए !

जिस वस्त्र को धोने और साफ करने की अत्यन्त आवश्यकता है, उस का पानी से स्पर्श हो जाना भी दोष माना जाता है । जिस रोगी को दवा देने की अत्यन्त आवश्यकता थी, उसे तो दी नहीं गई, किन्तु भले–चंगे को दी गई ! यह कहाँ की बुद्धिमत्ता है ? इस प्रकार की विपरीत प्रवृत्तियो से तो असली जरूरतमंद लाभ लेने से वंचित ही रह जाएँगे ।

किन्तु सज्जनो ! गिरे हुओ का कल्याण करना पतितों को ऊँचा उठाना और भूले — भटको को राह पर लगाना हमारा प्रथम कर्त्तव्य हो जाता है । यदि भरपेट भोजन किये को भोजन कराया गया, नीरोग को दवा दी गई और बिल्कुल साफ वस्त्र को धोया गया तो लाभ तो कुछ होगा नहीं, हानि की ही सभावना हो सकती है । अतएव पतितो को पवित्र बनाने की पूर्ण आवश्यकता है ।

तो हमारे कुलकरो ने कहा कि सब को शास्त्र सुनने और धर्माराधन करने और मोक्ष प्राप्त करने का अधिकार है । उन्होने जनता को मर्यादाएँ बतलाई तो पहले स्वयं आदर्श भी उपस्थित किया । जब तीर्थंकर प्रवचन करते हैं तो उस मे बारह प्रकार की परिषद् आती है । उस में पशु—पक्षी भी भगवान् की वाणी श्रवण करते हैं और अपने

जन्मजात वैर भाव को भी भूल जाते है। अतएव शास्त्रकार कहते हैं कि धर्म का प्रांगण बहुत विस्तीर्ण है। उस मे सभी को प्रवेश करने का समान अधिकार है। धर्म कल्पवृक्ष है जिस की संतापहारिणी शीतल छाया मे सभी विश्राम ले सकते हैं। फिर भी खोटी संगति से तो बचना ही चाहिए, फिर चाहे वह ब्राह्मण की हो या और किसी की हो! अच्छी संगति अपनानी चाहिए। जो सत्पुरुष है, सदाचारी है, मर्यादाशील और धर्मनिष्ठ है उस की संगति सत्संगति है; फिर भले ही वह शूद्र हो या कोई भी हो!

हमारे अन्तःकरण में दुर्गुणो के प्रति घृणा होनी चाहिए, किसी भी व्यक्ति के प्रति नहीं।

शास्त्र मे आया है कि जो लोग मिथ्या श्रद्धा वाले हैं, जिनकी दृष्टि दूषित और मलीन है, उन की संगति से बचना चाहिए। क्योकि कोयले की कोठरी मे जाने पर कुछ न कुछ कालापन लगे बिना नही रह सकता। कहा भी है—

काजल की कोठरी में कैसो हू सयानो जाय,
एक रेख लागि है पै लागि है पै लागि है।

इसी प्रकार कुसंगति का थोड़ा – सा भी असर पड़े बिना नहीं रह सकता। यह बात जैनशास्त्र ही नहीं कहते किन्तु मनुस्मृति मे भी

ऐसा ही विधान है—

> पाखण्डिनो विकर्मस्थान्, तथा वैडालिकाञ्छठान् ।
> हेतुकान् वक वृत्तींश्च, वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥
> —मनुस्मृति अ. ४ श्लो. २८०

अर्थात्— पाखंडी (दंभी), निषिद्ध कर्म करने वाले, बिल्ली की सी आजीविका वाले अर्थात् दूसरो का तन-धन अपहरण करने वाले, शठ – धूर्त एवं स्वार्थी वगुलाभक्त अर्थात् कपट का सेवन करने वाले ब्राह्मण की पूजा वचन मात्र से भी नहीं करनी चाहिए ।

अभिप्राय यह है कि जो ब्राह्मण पाखंडी — दंभी है, ढोंगी है, आडम्बर रच कर दूसरो को ठग रहा है और नाना प्रकार के दंभ कर के लोगो को उल्लू बनाता है, ऐसे ब्राह्मण से दूर रहने मे ही भलाई है । वह संगति करने योग्य ब्राह्मण नहीं है । जो ब्राह्मण शास्त्रो में निषिद्ध काम करता हो अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, चुगली, निन्दा आदि कुकर्म करता हो, उस की भी संगति नहीं करनी चाहिए ।

जिनकी वृत्ति बिल्ली जैसी हो, यानी जैसे बिल्ली परायी चीजें ताकती फिरती है, दूध मलाई कहीं इधर – उधर रक्खी हो तो उसे ढूंढती फिरती है, वैसे ही जो परकीय तन — धन का अपहरण करने

वाले हो उन्हें विडालवृत्तिक कहते हैं। जो ब्राह्मण ऐसी नीच वृत्ति वाला हो कि कोई मरे तो मेरा उल्लू सीधा हो, उस की संगति से भी बचना चाहिए। प्रायः देखा गया है कि जो मनुष्य जैसा व्यापार करता है, उस के अनुसार ही उस की मनोवृत्ति हो जाती है।

सज्जनो! देहली (सदर) की बात है। एक बार वहाँ मेरा चौमासा था। एक पण्डित जी सहज भाव से मेरे पास आ जाते थे। मैं पूछताछ के मामले में कम ही पड़ता हूँ। अभी कुछ दिन पहले एक भाई बोले— आप यहाँ के खजांची साहब को भी नहीं पहचानते। तब मैंने कहा— भाई, उन से मुझे कौन-सा चैक भुनवाना है! फिर भी सहज भाव में जो परिचय में आ जाता है, उस से कुछ पूछ भी लिया करता हूँ। फिर भी ब्योरे मे जाना मुझे पसंद नहीं है।

हाँ, तो मैंने उन पण्डित जी से पूछा— आप क्या करते हैं? उन्होंने कहा— कुछ वैद्यक और कुछ ज्योतिष का काम करता हूँ। मैंने पुनः प्रश्न किया— काम तो चल जाता होगा?

पण्डित जी— नहीं चलता, क्योंकि यहाँ सदर में प्रायः जैनी लोग हैं वे मृतक का क्रिया कर्म नहीं करते, सनातन लोगों के थोड़े से घर हैं यदि कभी कोई बुड्ढा मर जाता है तो कुछ पल्ले पड़ जाता है, अन्यथा प्राप्ति नहीं होती।

मुझे यह सुन कर अत्यन्त आश्चर्य हुआ— इसकी भावना कैसी जघन्य है !

पण्डित ने कहा— यहां के जैनी तो कुछ क्रिया कर्म ही नहीं कराते। वे भी अधिक सख्या मे दिगम्बर हैं, अतः विवाह कार्य भी अपने दिगम्बर पण्डितो से करवा लेते हैं।

मैंने सोचा— जैनी धर्म ध्यान की क्रियाएँ भी करते हैं और संसारव्यवहार की क्रियाएँ भी करते हैं, किन्तु इन महाशय का कहना है कि वे क्रिया कर्म नहीं करते ! मगर उन का अभिप्राय था- तेरवीं करना, पिण्डदान देना, श्राद्ध करना और मृतक के पीछे या उस के नाम पर अनेक प्रकार का विधिविधान करना ! मगर यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सब ढोंग हैं। मरने वाला मर गया, जाने वाला चला गया ! आप मरे तो जग प्रलय है ! पीछे उसके नाम पर पार्सल करने से कुछ भी नहीं होता। मरने वाला अपने कर्मों के अनुसार शुभ अथवा अशुभ गति मे उसी समय चला जाता है। उसके नाम पर कोई ब्राह्मणों को जिमा दे तो उस मृतक का पेट नहीं भरता और न जिमावे तो वह भूखा नहीं रहता। मगर स्वार्थी लोगो ने भोली जनता के मन में न जाने कैसी-कैसी धारणाएँ उत्पन्न कर दी हैं। यह विडालवृत्ति नहीं तो क्या है ?

इस प्रकार जो ब्राह्मण मुफ्त के माल की ताक में रहता है,

और अपने कर्म मे रत नहीं है, उस की संगति नहीं करनी चाहिए।

जो धूर्त्त है, शठ है और जो धूर्त्तता से, मायाचार से काम लेता है, लोगो को गलत रास्ता बतलाता है और कहता है— तुम्हारे बाप को अभी तक चोला नहीं मिला है, अतएव तुम कुछ धोला—धोला, पीला—पीला दान करो और ब्राह्मणो को जिमाओ, मगर सुपात्र ब्राह्मण को दान देना और जिमाना ! उसकी यह बात सुनकर जजमान समझता है— 'इन से बढ़ कर सुपात्र और कौन मिलेगा ! '

और कई लोग कहते हैं— अमुक वस्तु का दान करोगे तो बेटा होगा, लक्ष्मी की प्राप्ति होगी। ऐसी बातो को सिद्ध करने के लिए कथाएँ बना रक्खी हैं और उन कथाओ का बड़ा भारी माहात्म्य प्रकट किया जाता है। वे कहते हैं— दुर्गा का पाठ कराने से लक्ष्मी आएगी। मगर पाठ करने से लक्ष्मी आती है तो पण्डित जी महाराज ! तुम्हीं पाठ क्यो नहीं कर लेते, ताकि तुम्हारे यहां लक्ष्मी का ढेर लग जाय! मगर पाठ करने मे भी ४२० किया जाता है। पण्डित जी कहते हैं— जजमान ! नया पाठ लेना है या पहले का किया हुआ लेना है ! मेरे पास पहले का किया हुआ भी पाठ है ! भोला भाला जजमान सोचता है— नये पाठ मे देरी लगेगी और इन्हे जिमाना भी पड़ेगा, अतएव पहले किये हुए रिजर्व फंड के पाठ को ही क्यो न ले लूँ। यह सोच कर वह कहता है— अच्छा पण्डित जी ! मुझे तो करा कराया ही

पाठ दे दो ! यह सुन कर पण्डित जी कह देते हैं– अच्छा, चलो तुम्हारे नाम पर इतने हजार पाठों का संकल्प छोड़ देता हूं !

सज्जनो ! यह धूर्तता नहीं तो क्या है ? ऐसा करने वाला कोई भी क्यो न हो– जैन हो या जैनेतर हो, धूर्त्त ही कहलाएगा, क्योंकि बुराई तो बुराई ही है। हमे अच्छाई का ग्राहक होना चाहिए । दुनिया मे बडे-बडे धूर्त्त पडे हैं जो बड़ी सफाई के साथ भोले लोगों को ठगते हैं। एक उदाहरण लीजिए:—

जाटों के किसी गांव मे एक सीधा– सादा पण्डित रहता था। वह विशेष पढा–लिखा नहीं था, मगर शहरी पण्डितो की तरह धूर्त्त भी नहीं था। वह विवाहपद्धति नहीं जानता था, किन्तु अमरकोष के कुछ श्लोक उस ने याद कर रक्खे थे और वही श्लोक बोल कर वह शादी करा देता था । गाव के जाट भी अनजान थे, अतएव इस विषय मे वे भी कुछ नहीं समझते थे ।

एक समय की वात है। वह पण्डित किसी जाट के घर उसकी लड़की के फेरे फिरा रहा था। अकस्मात् वहीं एक शहरी पण्डित आ गया। वह पढ़ा–लिखा और वहुत होशियार था। वह तुर्र–फुर्र फन वाला था। उसने देखा— यह जमीदार जाटों का गांव है। मैं यहां अड्डा जमा लूंगा तो अच्छी खासी आमदनी होने लगेगी। शादी-विवा-

हो मे दो-चार सौ रुपया कमा लेना कोई बड़ी बात नहीं है। तो किसी तरकीब से मै ही फेरे क्यो न फिरा दूं !

इस प्रकार विचार कर उसने जाटो से कहा– देखो जी, तुम्हारा पण्डित तो बहुत मूर्ख है, जाहिल है और अमरकोष के श्लोक पढ कर विवाह करा देता है। यह विवाहपद्धति कुछ भी नहीं जानता।

सज्जनो ! आप जानते ही हैं कि जमीदार लोग भोले होते हैं उन्हें जैसी उल्टी-सीधी पट्टी पढ़ा दी जाय, झट वे झासे मे आ जाते हैं। अतएव उन्होने शहरी पण्डित की बात सुन कर कहा– एं ! यह विवाहपद्धति नहीं जानता ! और आज तक अमरकोष के श्लोक पढ कर ही शादी कराता आता है ! तो यह पण्डित किसी काम का नही और हमारे गांव मे रहने लायक नहीं। बस, उन्होने पुराने पण्डित को उसी समय हटा दिया और फेरे कराने के लिए शहरी पण्डित को बिठला दिया। वह शहरी पण्डित विवाह पद्धति के अनुसार सब क्रियाएँ कराने लगा। वह बोलने लगा– 'चन्द्र देवता, सूर्य देवता रख टका ! दे रोली का छींटा, ओ स्वाहा !' यह सब देख कर गांव का पण्डित सोचने लगा– इस बेईमान ने आकर मेरी आजीविका छीन ली। यह बहुत बुरी बात हुई ! कुछ उपाय करना ही होगा !

ग्रामीण पण्डित इसी विचार मे था कि मौके पर उसे भी एक

सूझ आ गई। उसने कहा— देखो जमींदार जजमानों ! मुझे आप लोग कुछ दो या न दो, यह तो मेरे भाग्य की बात है। मगर मैं अमरकोष के श्लोको के साथ फेरे फिरवाता था। उस का अभिप्राय यह था कि यह जोड़ी अमर बनी रहे ! क्या यही मेरा गुनाह था ! मैं अमरकोष के श्लोक बोल—बोल कर जोड़े की खैर मनाता था; मगर मैं बतलाता हूँ आप को कि यह धूर्त्त पण्डित क्या कर रहा है ? यह तो 'मरो' नाम के ग्रन्थ के श्लोक बोल—बोल कर विवाह करा रहा है। 'चन्द्र सूर्य देवता स्वाहा !' जो पहले ही स्वाहा बोलता हो, उस के पाठ से और विधिविधान मे खैर नहीं है। सुनते नहीं हो, यह एक-एक वाक्य के साथ स्वाहा – स्वाहा बोलता है ! तो जब यह फेरो में ही स्वाहा कर रहा है, भस्म कर रहा है, तब आगे क्या हाल होगा, यह तो तुम्हीं समझ लो !

यह बात सुन कर उन जाटों को कहाँ सब्र रह सकती थी ? उन्होने न स्वाहा का अर्थ पूछा और न उसको बोलने का प्रयोजन ही पूछा। तत्काल उन सब ने निर्णय कर लिया कि जो पण्डित हमारे लड़की-दामाद की खैर नहीं चाहता, वह किस काम का ? इसे जल्दी से जल्दी भगा देना चाहिए। यह सोच कर स्वाहा—स्वाहा करते हुए पण्डित जी को वेदी पर से उठने के लिए कहा। जब उसने आनाकानी की तो उसे धक्के दे कर घर से ही नहीं, गाव से भी बाहर निकाल दिया।

आशय यह है कि जो दूसरे की आजीवका छीनने की कोशिश करता है दूसरो को धोखा देता है, दंभ करता है, अन्त मे उसी को हानि उठानी पड़ती है। ऐसे की संगति भी हानिकर होती है, अतएव विवेकशील व्यक्तियो को चाहिए कि वे ऐसे दंभी लोगो की संगति से सदैव बचते रहे और सत्सग ही किया करें।

इस के अतिरिक्त जो लोग अपने स्वार्थ के लिए ही विद्या पढते हैं और दूसरों को उल्लू बनाने के लिए ही विद्याएँ सीखते हैं और सोचते हैं कि मैं चालाकी से मूर्खों को ठगूँगा, उन की संगति से भी बचना चाहिए।

और जिस की बगुला की सी वृत्ति हो अर्थात् जो ऊपर से तो तिलक छापा लगा ले और भीतर छल से भरा हो और एक टांग ऊँची करके, पूर्ण भक्त बन कर भक्ति करे और मछली को देख ले तो फौ-रन हड़प जाय और डकार भी न ले, इसी प्रकार जो महानुभाव दिखावटी भक्ति करता है और जिस के अन्तरंग मे छल कपट भरा है, जो बनावटी भक्ति मे लीन हो रहा है, जो मछली की तरह पास मे आये भक्त को मायाचार से – छल से हड़पते देर नहीं करता, उससे दूर ही रहना चाहिए।

इस प्रकार जिस ब्राह्मण मे इतने दोष हो, जो इन दुर्गुणो का

भंडार हो, उस की वचन मात्र से भी स्तुति नहीं करनी चाहिए और न संगति ही करनी चाहिए।

यहाँ संगति का जो निषेध किया गया है, वह एक प्रकार से पाप से असहयोग करना है, पाप का वहिष्कार करना है, जो प्रत्येक धार्मिक का कर्त्तव्य और अधिकार है। ऐसा न किया जाय तो पापी का उत्साह बढ जायगा और वह पाप को अधिक बढ़ावा देगा। अतएव उस से असहयोग करना आवश्यक है। किन्तु इस का अभिप्राय यह नहीं समझना चाहिए किसी जाति विशेष अथवा वर्ण विशेष के वहिष्कार का समर्थन यहाँ किया जा रहा है। संसार में कोई जाति खोटी नहीं है और न अच्छी है। किसी भी जाति के समग्र व्यक्ति समान नहीं होते। प्रत्येक जाति और वर्ण मे भले आदमी भी होते हैं और बुरे आदमी भी होते हैं। अतएव किसी भी जाति या वर्ण के प्रति कोई एक धारणा वना लेना न्यायसगत नहीं है।

सज्जनो! दंड उसी को मिलता है जिस ने भूल की हो, यह नहीं कि सारी की सारी जाति ही दडपात्र हो जाय। किन्तु आज मनुष्य के दिमाग मे जातिवाद का भूत ऐसा घुस गया है कि कल्पित उच्च जाति का व्यक्ति चाहे कितना ही दुराचारी हो, लंपट हो और धूर्त्त हो, उस के पास विना बुलाये ही लोग चले जाते हैं। किन्तु जिनका आचरण अच्छा हो, जो धर्म क्रिया करते हो, वह भी यदि

नीच जाति के समझे जाते हैं तो उन के पास जाने वालों की भी निन्दा की जाती है और उन्हें बहिष्कृत भी कर दिया जाता है। वास्तव मे ऐसा करना मनुष्य जाति के प्रेम-सूत्र का उच्छेदन करना है। यह सदाचार पर दुराचार की विजय है और धर्म के सामने अधर्म को बढावा देना है।

प्रेमसूत्र को जोड़ना कठिन किन्तु तोड़ना आसान है। आज ऐसे बहुत गठ कतरे चाकू लिये फिरते है और जहाँ कहीं अवसर पाते हैं, प्रेमसूत्र को काटने के लिए उद्यत हो जाते हैं। वे इतने चालाक होते हैं कि स्वयं तो सामने नहीं आते, मगर दूसरे भोले व्यक्तियो को उकसा देते हैं, भड़का देने हैं और आगे कर देते हैं। वे अपनी धूर्तता से कहते हैं— देखो, उन्होने तुम्हारे विषय मे ऐसा कह दिया, वैसा कह दिया! इस प्रकार वे टट्टी की ओट मे शिकार खेलते हैं। मगर याद रखना चाहिए कि जो लोग संघ मे विच्छेद डालने के काले कारनामे करते हैं, जो फूट के विषैले बीज बोते हैं, उनका यहाँ भी और परलोक मे भी काला मुंह होगा। अन्त मे उन की कलई खुल कर रहेगी।

तो हम देखते हैं कि संघ में प्रेमसूत्र को जोड़ने वाले थोड़े हैं किन्तु तोड़ने वाले बहुत हैं। प्रेम सूत्र को तोड़ना कोई कठिन काम नहीं। मूर्ख से मूर्ख भी उसे तोड़ सकता है, मगर जोड़ने के लिए

बुद्धिमत्ता की आवश्यकता होती है। आग तो मूर्ख भी लगा सकता है, मगर उसे बुझाने के लिए बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

कुछ लोगों का ऐसा स्वभाव बन जाता है कि तोड़ फोड़ किये बिना उन्हे चैन नहीं मिलती। उन की रोटी हजम भी नहीं होती। आप नारदबाबा को भली भाँति जानते हैं। वे जगत्प्रसिद्ध हो चुके हैं। बच्चे-बच्चे के मुँह पर उन की नारदविद्या की चर्चा होती रहती है। उनकी ही एक कथा सुन लीजिए:—

घूमते – घूमते नारद जी एक नगर मे जा पहुँचे। वहाँ एक व्यक्ति से उन की मुठभेड़ हो गई, उसने कहा— आप की आप मे यह तारीफ है कि आप बसे हुए को उजाड़ सकते हो और उजड़े हुए को बसा सकते हो। आप ऐसी बातो मे बहुत होशियार हैं, पर मैं आपकी होशियारी की तारीफ तब करूंगा जब आप एक परीक्षा मे उत्तीर्ण हो जाएं।

नारद जी— कौन सी परीक्षा ?

उसने कहा— हमारे गांव में अमुक सेठ–सेठानी है और उनमें गाढ़ा प्रेम है, इतना गाढ़ा कि उन के प्रेमसूत्र को मनुष्य तो क्या देवता भी भंग नहीं कर सकता।

बस, इतना सुनना था कि मानों नारद बाबा के शरीर मे

बिजली दौड़ गई। वह कहने लगे— यह कौन सी बड़ी बात है ! मैं भगवान् और लक्ष्मी को भी अलग-अलग कर सकता हूं तो यह काम तो मेरे बाएं हाथ का खेल है।

यह सुन कर उस व्यक्ति ने कहा— बस रहने दो बाबा जी, अगर आप इन दोनों के स्नेहसूत्र को तोड़ने मे समर्थ हो सकें तो मैं समझूं कि आप सच्चे नारद बाबा हैं !

बाबा बोले— अच्छा, तेल देखो, तेल की धार देखो।

इतना कह कर नारद जी सीधे उस सेठानी के घर पहुँचे। सेठानी ने बाबा जी को देख कर नमस्कार किया, आदर सत्कार के साथ बिठलाया और जलपान कराया।

सज्जनों ! नारद बाबा से सब लोग डरते थे और इस कारण सभी उनका सत्कार करते थे। और वे पक्के ब्रह्मचारी थे, अतएव उन्हें कोई भी कहीं जाने से नहीं रोकता था। आखिर सब जगह गुणों की महिमा है। ब्रह्मचर्य गुण उन मे इतना जबर्दस्त था कि उस के कारण सर्वत्र उन की प्रतिष्ठा होती थी।

एक कवि कहता है— ऐ केतकी के फूल ! तू मेरे द्वारा छोड़ा नहीं जाता। यदि मैं तेरी मूल जन्मभूमिका की तरफ जाऊं तो तुझे स्पर्श करने की भी तबियत नहीं होती; क्योंकि जहां तू पैदा होता है,

वहां सांप निवास करते हैं और भ्रमर गुंजार करते रहते हैं । तेरी जननी लता पर तीखे तीखे कांटे होते हैं और कीचड़ से तेरी उत्पत्ति होती है । तेरे इतने दुर्गुणों को देखूं तो तुझे छूने की भी इच्छा नहीं होती । मगर विवश हूँ केतकी कुसुम ! तुम्हारे अन्दर एक लाजवाब गुण है और वह है सुगन्ध का । उसने मुझे मुग्ध कर लिया है । इस महान् गुण के कारण मैं तेरे समस्त दुर्गुणों को भूल गया हूँ । इस गुण ने अन्य दुर्गुणों को आच्छादित कर दिया है । इसी कारण मैं तुझे अपनाता हूँ और सूंघता हूँ ।

तो इसी प्रकार नारद बाबा में भी एक ब्रह्मचर्य का गुण इतना जबर्दस्त था कि उस गुण के कारण वे अन्तःपुर में भी बेरोक टोक निर्भीक भाव से जा सकते थे और वहाँ भी उन का हार्दिक स्वागत होता था। जहाँ वे पहुंचते, लोग अपना अहोभाग्य समझते थे ।

तो जब वे उस सेठानी के घर पहुंचे, सेठानी ने सत्कार किया और आदरपूर्वक उच्चासन प्रदान किया । तब नारद जी बोले— देवी, तू बड़ी भाग्यवती है, पुन्यवती है और साक्षात् लक्ष्मी और सरस्वती का अवतार है । तेरा जितना भी गुण-गान किया जाय, थोड़ा है । मगर क्या किया जाय, लाचारी है । पुण्य — पाप का जोड़ा है । तुझे जो पति मिला है, वह सुलक्षण वाला नहीं है । वास्तव में तू लक्ष्मी

है और पतिव्रता सन्नारी है। तेरी प्रशंसा नहीं हो सकती।

सेठानी ने कहा— बाबा जी, मुझे मेरे पतिदेव बड़े प्रिय हैं। वे मेरी सार-सँभाल करते हैं और मुझे सर आंखों पर रखते हैं।

नारद जी बोले— ऊपर से तो वे अच्छे हैं, सद्‌गुणी जान पड़ते हैं, किन्तु हैं वे नूनखोरे !

सेठानी— बाबा जी, यह कैसे ?

नारद— तू बड़ी भोली है। नहीं समझती इन बातों को। जो नूनखोर होता है, वह सारे घर को खत्म कर देता है। बात यह है कि जो नूनखोरा होता है, उस का शरीर खारा-खारा होता है।

सेठानी— उन के सबंध मे मुझे यह बात नहीं जँचती !

नारद— नहीं जँचती तो न सही, तेरी मर्जी ! तेरे भले के लिए ही मैंने यह बात कही है। फिर भी तुझे विश्वास न हो तो आज रात के समय, जब तेरे पति को निद्रा आ जाय तो तू उठ कर चुपके से उस के शरीर को जीभ से चाट कर देख लेना। मेरी सचाई का तुझे पता लग जायगा।

सेठानी— अच्छा बाबाजी, आज ही मैं परीक्षा करूँगी। फिर आपको बतलाऊँगी।

नारद— मेरी बात भूल मत जाना। मेरे वचन कभी मिथ्या नहीं हो सकते।

बावाजी सेठानी को यह सब सिखा कर और आशीर्वाद दे कर वहाँ से चले और सीधे सेठजी के पास पहुँचे। सेठ जी ने भी उन का बड़ा आदर–सत्कार किया और उच्चासन पर बिठलाया। तब बातो–बातो मे नारद जी ने कहा– सेठजी, तुम बड़े भाग्यशाली प्रतीत होते हो। तुम्हारा भाग्य-सितारा आकाश को स्पर्श कर रहा है। इस जीवन मे तुम्हें सब कुछ मिला है। किन्तु सब प्रकार की समृद्धि होते हुए भी सेठानी कुलक्षणा मिली है। वह तीन कौड़ी की भी नहीं है। हाँ, ऊपर से वह लावण्यवती है, पतिव्रता है और सभी गुणो से सम्पन्न है, किन्तु वह पूर्व जन्म की कुतिया है। उसे पुण्य - योग से मनुष्य जन्म मिल गया है, परन्तु उसके पुराने संस्कार अब तक पूरी तरह नहीं गये हैं। इस कारण भविष्य मे उस से खतरा समझो। मैंने उस के लक्षण देखे हैं और मैं दावे के साथ कहता हूँ कि वह संस्कारवश कभी भी तुम्हें काट सकती है।

सेठजी ने नारद बावा की बात सुन कर कहा– मेरी स्त्री तो लक्ष्मी है! उसने आज तक मेरी आज्ञा का पालन करने मे कुछ कसर नहीं रक्खी। मैं स्वप्न मे भी विश्वास नहीं कर सकता कि मेरी पत्नी वैसी हो सकती है! जान पडता है, आप विनोद करने या मेरी परीक्षा लेने क लिए ऐसा कह रहे हैं।

नारद जी ने गंभीर स्वर से कहा— सेठ, मैं परोपकारी हूं।

मुझे तुम से कुछ लेना नहीं है— लोभ मुझ में है नहीं। फिर क्यों मैं मिथ्या बात कहूंगा ? जो कुछ कह रहा हूँ, तेरे भले के लिए ही कह रहा हूं। मैंने सेठानी के चिह्न देखे हैं कि उस मे वैसे संस्कार अंकुरित हो रहें हैं। तुम्हें विश्वास न आता हो तो एक काम करना। आज रात को झूठी नींद ने सो जाना। तुम्हे मेरी बात की सत्यता का प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जाएगा। हां, रात में जब सोओ तो पास मे एक डंडा रखना। फिर जब उसका प्रयोग करने की इच्छा हो तो जो विचार हो सो करना। तुम्हारी मर्जी की बात है। मगर याद रखना, खतरा आज ही रात में है। आज की रात आनन्दपूर्वक निकल गई और कोई बात न हुई तो यह समझ लेना कि आगे कोई खतरा नहीं है।

इस प्रकार सेठ को भी उल्टी पट्टी पढ़ा कर और पूर्ण रूप से अपनी बात का विश्वास जमाकर नारद बाबा अपनी जगह चले गये।

नारद की बात सुनी तो सेठ का दिन समाप्त होना ही कठिन हो गया। जैसे-तैसे सूर्यास्त हुआ। सेठ ने भोजन किया और फिर इधर-उधर घूमघाम कर अपने कमरे मे आया और सो गया। पास में एक डडा छिपा कर रख लिया। उधर सेठानी भी अपने कार्य से निवृत हो कर पलंग पर सो गई। नींद दोनो मे से किसी को न आई, परन्तु दोनों बनावटी खुर्राटे लेने लगे।

घड़ी ने टन् – टन् करके बारह बजाये। दोनों विशेष रूप से

सावधान हो गये और अपनी-अपनी परीक्षा की प्रतीक्षा करने लगे। सेठानी ने सोचा— सेठ जी भरपूर नींद मे सो गये हैं। अब अच्छा अवसर है। इसी समय परीक्षा कर लेना चाहिए। यह सोच कर वह चुपचाप अपने पलंग से उठी और सेठ के पलंग के पास पहुँची। उस ने ज्यों ही सेठ के शरीर को चाटना चाहा कि उसी समय सेठ उठ खड़े हुए। उन्होंने दो-चार डंडे जमा कर कहा- चल कुतिया रांड! तुझे मैं ही मिला खाने को! अच्छा हुआ कि मैं जाग गया, अन्यथा आज मेरा खात्मा ही हो चुका था।

इस प्रकार कह कर सेठ ने सेठानी को बुरी तरह पीटा। दोनों के गाढ़े प्रेम का सूत्र टूट गया।

सज्जनो! मैं कह रहा था कि जो प्रेमसूत्र एक बार टूट जाता है, यदि समझदारी और दूरदर्शिता से काम न लिया गया तो उस का फिर जुड़ना कठिन हो जाता है। कहा भी है—

रहिमन धागा प्रेम का, मत तोड़े छटकाय।
टूटे से फिर ना मिले, मिले गांठ पड़ जाय॥

अतएव सज्जनो! प्रेम की डोर मत तोड़ो। टूट कर उस का जुड़ना बहुत कठिन है। यदि येन केन प्रकारेण जुड़ भी गई तो भी

गांठ तो पड़ ही जाएगी।

नारद जी ने उस आदमी से कहा— 'मैंने उन सेठ–सेठानी का प्रेमसूत्र भंग कर दिया है !' वे अपनी विजय पर बहुत प्रसन्न थे।

तो संसार मे ऐसे नारदों की कमी नहीं है, जो इधर–उधर की बातें करने के आदी हो जाते हैं । उन्हें भिड़ाने और लड़ाने में ही आनन्द आता है। बहुत से लोग ऐसी बातों मे रस लेते हैं। संघ मे, समाज में, जाति मे और राष्ट्र मे फूट डालना ही उन का काम होता है। मगर भद्र पुरुषो ! ऐसा करना घोर कर्मबन्ध का कारण है। उस का परिणाम दुःखों का भोग है । ऐसे अशान्तिवर्धक कार्य करने से लाभ तो कुछ होता नहीं, हानि ही हानि होती है। अतएव विवेकवान् पुरुषों को चाहिए कि वे ऐसे नारदों से बचते रहें । ऐसे लोगों का तुम्हारे दिमाग पर असर नहीं होना चाहिए। अन्यथा सेठ – सेठानी की तरह तुम्हारा प्रेमसूत्र भी टूट जाएगा।

शास्त्रकार कहते हैं— ऐसे संघ विच्छेदकों की संगति से भी बचना चाहिए। जो श्रद्धा से गिर गये हैं और जिनके हृदय में राग–द्वेष की परिणति बढ़ती जा रही है, ऐसे लोगों की संगति करने की अपेक्षा घर बैठे रहना श्रेयस्कर है। अतएव सभ्य, सुसंस्कारी और गुणी जनों की संगति करो और खोटी संगति से बचो । जो खोटी

संगति से बचते हैं और अच्छी संगति में तत्पर रहते हैं, वे अपनी आत्मा का कल्याण करके सुख के पात्र बनते हैं।

ब्यावर
२४-६-५६

॥ ७ ॥

निश्शंकित आचार

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः, सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः, पूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्त–सुपाठका मुनिवरा, रत्न–त्रयाराधकाः
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं, कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

उपस्थित महानुभावो !

कल मैं बतला चुका हूँ कि समकितधारी जीवो को इस बात का पूरा ध्यान रखना होगा कि जो लोग समकित से पतित हो गए हैं, जिन्होंने सम्यक्त्व का वमन कर दिया है, जो समकित के विरोधी हो गये हैं और सम्यक्त्व मे विश्वास नहीं रखते हैं, बल्कि विरुद्ध प्रचार करते हैं, उनकी संगति से दूर ही रहना चाहिए।

समकित, शुद्ध श्रद्धा, अटल विश्वास, सत्यनिष्ठा आदि सम्यक्त्व के अनेक नाम हैं। इस सम्यक्त्व के आठ आचार होते हैं।

यहाँ आचार का अर्थ आम, नीबू या मिर्चों का आचार नहीं, किन्तु गुणो के आचार । जो कृत्य आत्मा के लिए ग्रहण करने योग्य है, जो हितावह है, वह आचार कहलाता है।

तो दर्शन के आठ आचार हैं— कृत्य हैं, जिन से सम्यक्त्व की वृद्धि होती है या सम्यक्त्व उज्ज्वल होता है। यदि दर्शन के आचारों पर ध्यान न रखा जाय और उन की उपेक्षा की जाय तो दर्शन ठीक नहीं रहता और उस पर मिथ्यात्व की फूलन चढ जाती है। उस स्थिति मे वह व्यक्ति दर्शन से भ्रष्ट हो जाता है और उस का दर्शन बाहर फेंकने योग्य हो जाता है। अतएव प्रत्येक दर्शनधारी के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह दर्शन के आठ आचारों का पालन करे, जिस से वह मेरु पर्वत की चट्टान की तरह अडोल–निश्चल भाव मे अपनी समीचीन श्रद्धा पर टिका रहे, विचलित न हो सके।

समकित को बनाये रखने के लिए सब से पहला आचार निः-शंकिताचार है। समकितधारी के जीवन में सर्व प्रथम निश्शंकितता आनी चाहिए। केवलज्ञानियों ने संसार के कल्याण के लिए, हितबुद्धि से, निःस्वार्थ भाव से और निःसंकोच भाव से जगत् का जो पथप्रदर्शन किया है, हित के मार्ग का जो निरूपण किया है, जो पदार्थ बतलाये

हैं, उन मे पूर्ण विश्वास रखना और किसी भी प्रकार की शंका न लाना ही निःशंकित आचार है। सम्यग्दृष्टि को ऐसा अटल विश्वास होता है कि त्रिकालज्ञ महापुरुषो ने जो फरमाया है, उसमे हम अल्पज्ञों के लिए शका लाने की कोई गुंजाइश नहीं है । वह विश्वास रखता है कि—

नान्यथावादिनो जिनाः ।

अर्थात्– जिन या वीतराग पुरुष कदापि अन्यथावादी नहीं हो सकते ।

शास्त्र मे भी यही कहा है:—

तमेव सच्चं णीसंकं, जं जिणेहिं पवेइयं ।

—आचारांग

अर्थात्– जो राग, द्वेष, मोह और अज्ञान आदि दोषों के पूर्ण विजेता जिन भगवान् ने प्ररूपण किया है, वही सच्चा है और वही असंदिग्ध है, उस मे संशय नहीं करना चाहिए ।

हां, अल्पज्ञों की वाणी मे शंका हो सकती है या स्खलना हो सकती है, उनमें भूल भी हो सकती है । यद्यपि जो दस पूर्वो के धारक होते हैं, उनका भी ज्ञान सम्यक् ज्ञान होता है, किन्तु उपयोगपूर्वक जो ज्ञान होता है वही सम्यक् ज्ञान होता है । कदाचित् उपयोग न रहे

तो वहाँ भी स्खलना हो सकती है।

कहने का आशय यह है कि वीतराग के वचनों में अन्यथापन के लिए कोई अवकाश नहीं। अतएव उन के वचनों में किसी भी प्रकार की शका न लाना ही निःशंकिताचार है।

ज्ञानी जनों का कथन है कि जिस के मन मे शंका बनी रहती है, जिसका भ्रम दूर नहीं होता, उसका परिणाम अन्ततः अशुभ और अवांछनीय ही होता है। जैसे तेल कम होने पर दीपक की ज्योति धीरे-धीरे मंद पड़ती जाती है, और फिर वह समाप्त हो जाती है, इसी प्रकार अश्रद्धा रूपी शंका भी समकित रूपी तेल को जलाती जाती है, जिससे समकित और आत्मज्योति में मंदता आती रहती है और अन्ततः समकित का प्रकाश समाप्त हो जाता है और मिथ्यात्व का गहन अंधकार छा जाता है। अतएव वीतराग के वचनो में शंका नही लानी चाहिए। कहा भी है—

संशयात्मा विनश्यति।

शास्त्रकारों के अतिरिक्त नीतिकारो का भी यही कथन है कि संशयशील आत्मा विनाश को प्राप्त होता हैं।

यहाँ यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि शास्त्रकार जहाँ

संशय से होने वाली हानि को बतला रहे हैं, वही संशय के लाभ भी बतलाते हैं। कहा गया है—

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति ।

अर्थात्– शंका पर आरूढ़ हुए बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती और कल्याण नहीं हो सकता। जिस के मन मे संशय उत्पन्न होता है, उसमें जिज्ञासा होती है और जिज्ञासा होती है तो विशेषज्ञ से प्रश्न किया जाता है। प्रश्न करने पर मिले हुए उत्तर से ज्ञान की वृद्धि होती है। इस प्रकार शंका को पतन का कारण बतलाया है तो उन्नति का मार्ग भी बतलाया है। वही दवा विनाश का–मृत्यु का भी कारण है और उसी दवा को ठीक रूप से रोग पर सेवन किया जाय–विधिपूर्वक प्रयोग किया जाय तो रोगनाशक भी हो जाती है। मगर उस के सेवन का तरीका सही होना चाहिए। जहर मारने की बुद्धि से खिलाया जाता है तो उससे मृत्यु हो जाती है और वही जहर जब औषध के रूप में सेवन कराया जाता है तो मरते हुए को बचा भी लेता है–आरोग्य प्रदान करता है। इस प्रकार विष तो वही है किन्तु वह विनाश और विकास–दोनों का कारण बन सकता है। नाश तो यह हुआ कि उस से रोगी मर गया और विकास यह हुआ कि जहां रोगी दुःख के कारण आर्त्तध्यान में था, आकुल-व्याकुल हो रहा था, उसे नींद नहीं आ रही थी, ऐसी स्थिति मे जहर ने उसे विकास

दे दिया, प्रकाश दे दिया और जीवन मे नीरोगता की रोशनी दे दी।

इसी प्रकार संशय भी आत्मा में विष और अमृत — दोनों का काम करता है। एक संशय दो परस्पर विरुद्ध परिणाम कैसे उत्पन्न कर सकता है? यह बात ध्यान देने योग्य है।

शंका दो प्रकार की होती है— श्रद्धापूर्वक शंका और अश्रद्धापूर्ण शंका। श्रद्धापूर्वक शंका किसी चीज़ को समझने के लिए होती है, परिमार्जन करने की इच्छा से होती है, किन्तु अश्रद्धापूर्ण शंका में अनास्था छिपी रहती है, उसमे अशुद्ध भाव होता है। जिज्ञासा दृष्टि से उत्पन्न होने वाली शंका अशुद्ध नहीं किन्तु विकाररहित होती है। उस शंका में श्रद्धा अटल बनी रहती है। ऐसी शंका करने वाला मानता है कि वस्तु तो सच्ची है, ज्ञानी पुरुषों का कथन अन्यथा हो ही नहीं सकत; मगर उस का स्वरूप किस प्रकार है, यह मुझे समझना है। तत्त्व यथार्थ है मगर किस अपेक्षा से ऐसा कथन किया गया है? महापुरुषों ने, सर्वज्ञों ने जो फर्माया है, वह अक्षरशः सत्य है, यह विश्वास रखता हुआ भी जिज्ञासु पुरुष वस्तुतत्त्व को समीचीन रूप से समझना चाहता है। अतएव उसे शंका होती है कि यह किस प्रकार है? उसे यह शंका नहीं कि वीतराग प्रतिपादित वस्तु सत्य है अथवा नहीं? उसे तो 'कैसे' की शंका है। अर्थात् सत्य तो है ही परन्तु किस प्रकार सत्य है, यही उसे समझना होता है। वह मूल को स्वीकार

करके शंका करता है, किन्तु मूल को नष्ट करके नहीं करता।

तो इस प्रकार की शंका ज्ञान का विकास करने वाली है, प्रकाश करने वाली है। वह मनुष्य को प्रकाश की ओर आगे से आगे ले जाती है। ज्ञानवृद्धि में सहायक बनती है और अपूर्व ज्ञान का खजाना बढ़ाती है।

दूसरे प्रकार की शंका अश्रद्धापूर्वक होती है। जिस के मन में मूल वस्तु पर आस्था नहीं, विश्वास नहीं, उसे उत्पन्न होने वाली शंका मूल का विनाश करने वाली है। ऐसी शंका रखने वाला अपने विनाश को आमंत्रित करता है, विकास को अवरुद्ध कर देता है। वह निरन्तर अंधकार की ओर अग्रसर होता चला जाता है और अन्त में कहीं का नहीं रहता।

दूसरे प्रकार से भी शंका के दो भेद हैं— देशशंका और सर्व-शंका। देशशंका क्या है और सर्वशंका क्या है, यह बात समकितधारियों को भलीभांति समझ लेनी चाहिए। यदि इन्हें समझने का प्रयत्न न किया गया तो जब वे आक्रमण करेंगी तो ठीक तरह से हम अपना बचाव न कर सकेंगे। हम इनकी गतिविधि से परिचित होंगे, जानकार होंगे तो डट कर मुकाबिला कर सकेंगे। अगर हम अनजान और असावधान बने रहे तो लुटेरे हमें लूट लेंगे, हमारे समकित रूपी रत्न को छीन लेंगे।

यद्यपि मैं अच्छी तरह समझता हूँ कि यह विषय शुष्क है, रूखा है और तात्त्विक विषय मे प्रत्येक को रस नहीं आता है, किन्तु तुम्हें रस आवे या न आवे, मुझे तो रस आता है। याद रखना कि जिस चीज में मुझे रस आएगा वह मैं तुम्हें भी दे सकूंगा। अगर दो-चार भी रस लेने वाले समझदार श्रोता निकल आए तो मेरा कहना सार्थक हो गया और समझिए कि मामला बन गया।

व्यापारी के पास दो-चार अच्छे ग्राहक आ जाते हैं तो उस का वह दिन व्यापारिक दृष्टि से सफल गिना जाता है और यदि नंगे-भूखे पचासो ग्राहक आ गये तो उसे कोई लाभ नहीं होता। दो-चार ग्राहक अगर जोरदार माल खरीद ले जाएँ तो मामला ठीक बन जाता है। और यदि पचासों ग्राहक आये और माल बिखेर कर चले गये और खरीद न कर गये तो व्यापारी का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

एक समय की बात है। पंजाब मे खरड़ नामक नगर में गुरु महाराज व्याख्यान देने की इन्तजारी में थे किन्तु श्रावक-श्रोता-नहीं आये थे। अतएव वे श्रावको की प्रतीक्षा करते हुए पाट पर विराज-मान थे। वहीं एक मामचद जी जैन मास्टर अकेले सामायिक किये हुए बैठे थे। वे अच्छे ज्ञाता और धुरंधर श्रावक थे। उन के पास अच्छा ग्रन्थालय था और पच्चीस बोल तथा नवतत्त्व आदि के वे ज्ञाता थे। तो उन्होंने गुरु महाराज से कहा— महाराज! व्याख्यान

का समय हो चुका है।

गुरु महाराज बोले— श्रावक जी ! श्रोता तो अभी आये नहीं हैं। तब मामचंद जी ने कहा— मै जो आपके सामने बैठा हूँ। मुझे हो आप ज्ञान दीजिए। और यदि आप पराल ही कूटना चाहते हैं तो बात दूसरी।

सज्जनों ! पराल का चाहे बीस मन का ही ढेर क्यो न हो, उसमे से कूटने पर कुछ भी निकलने वाला नहीं, क्योंकि उस मे धान नहीं है। यदि थोड़ी सी भी धान कूटी जाय तो चावल निकल सकेंगे।

तो मामचन्द जी कहने लगे— मैं अकेला बैठा हूँ तो क्या हुआ ! आप मुझको हो जिनवाणी सुनाइए। जो जीमने को आ गया है, उसे तो परोस दीजिए। महाराज ! मुझे जोर की भूख लगी है, अतः ज्ञान रूपी भोजन परोसने मे विलम्ब न कीजिए।

बस श्रावक जी का इतना कहना था कि गुरु महाराज ने व्याख्यान आरंभ कर दिया। उसके बाद दूसरे-दूसरे लोग आने लगे।

मैं समझता हूं— चोपाई में और राजा-रानी की कहानी में रस लेने वाले बहुत निकल आएंगें, किन्तु जिनवाणी के अलौकिक रस का पान करने में रुचि रखने वाले बहुत कम निकलेंगे। किन्तु उन ठोस

तत्त्वों मे रस लेकर अगर दस–बीस व्यक्तियों ने भी अपने जीवन को ठीक कर लिया – परिमार्जित कर लिया तो मेरा सुनाना सार्थक हो जायगा।

यों तो आपने कितने ही व्याख्यान सुन लिये होगे, किन्तु उन्हें सुन कर भी आपके जीवन मे कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। मैं पूछना चाहता हूँ कि व्याख्यान सुन कर आपने क्या लाभ लिया! तुम्हारा मिथ्यात्व तो अभी तक नहीं गया! आज भी कोई कहीं भागा-भागा फिरता है और कोई कहीं जाकर मत्था रगड़ता है। मैं यहां के जिन लोगो के विषय में स्वप्न में भी विश्वास नहीं कर सकता था, वे भी इस मिथ्यात्व रोग के मरीज निकले!

इसका कारण क्या है? यही कि जिन भगवान् के ठोस तत्त्वों को सुनने और सुनाने का ठीक तरह प्रयास नहीं किया गया। अगर ये चीजें आपको सुनने को ठीक रूप से मिल जातीं और आप लोग सही रूप से समझ लेते तो कोई कारण नहीं कि मिथ्यात्व का यह कूड़ा – कचरा हृदय से न निकल जाता!

तो मै कह रहा था कि जिस में बल होता है, शक्ति होती है, ऐसी थोड़ी-सी दवा की मात्रा भी ताकत देने वाली होती है और जिस मे बल नहीं होता, उस दवा के कचरे को चाहे सेर भर खा लिया जाय,

फिर भी शरीर में शक्ति का संचार नहीं होता।

इसी प्रकार जिन वचनों में वह शक्ति है, जिन्हें सुन कर-सेवन करके आत्मा अनन्त शक्ति प्राप्त कर लेता है और उस शक्ति के द्वारा तीव्र से तीव्र मिथ्यात्व को भी पछाड़ देता है।

हाँ, तो मैं दर्शन के विषय में कह रहा था कि- शंका दो प्रकार की है— देशशंका और सर्वशंका। देश का अर्थ अंश है; अर्थात् किसी वस्तु के एक अंश- भाग को लेकर शंका करना देशशंका है और उस समूची वस्तु के संबंध में सन्देह होना सर्वशंका है। जैसे- यह वस्तु है अथवा नहीं ?

उदाहरण के लिए आत्मा को ही लीजिए। आत्मा असंख्यात प्रदेशों वाला द्रव्य है। उसके विषय मे किसी को शंका हुई कि आत्मा का अस्तित्व है अथवा नहीं? यह शंका सर्वशंका हुई। किसी को शंका उत्पन्न हुई -आत्मा तो है मगर वह असख्यात प्रदेश वाली है या अणु परिमाण वाली है ! या सर्वव्यापक है ! इस तरह की शंका देशशंका कहलाती है, क्योंकि यह आत्मा के एक ही धर्म के विषय मे शंका है।

बिजली का जो बल्ब होता है, उसमें कई नन्हें-नन्हें तार होते हैं। उन्हीं तारों में प्रकाश होता है। लाइट होती है। तो बिजली का

असली तार तो एक है, किन्तु विजली को आगे फेंकने वाले—सलाई करने वाले अनेक तार होते हैं। इसी प्रकार द्रव्यात्मा तो एक तार के समान एक है और नन्हें-नन्हें तारों के समान आत्मा के प्रदेश असंख्य हैं। इस प्रकार आत्मा असंख्यात प्रदेशमयी है और उसमें अनन्त प्रकाश और ज्योति भरी पड़ी है। तो निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि आत्मा है; आत्मा के अस्तित्व से इन्कारी नहीं हैं, कोई शंका, भ्रान्ति और संकल्प-विकल्प नहीं है, किन्तु आत्मा को जो असंख्य प्रदेशात्मक कहा है सो कैसे? वह असंख्यात प्रदेशमय है अथवा नहीं है? वह लोक प्रमाण है या परमाणु-प्रमाण है? वह अंगुष्ठ प्रमाण है या शरीर प्रमाण है? इत्यादि बातों में शंका होना, अर्थात् किसी भी वस्तु के एक धर्म-अंश-में शंका होना देशशंका है।

किसी-किसी ने आत्मा को लोक प्रमाण माना है और सिद्धांत बना लिया है कि—

एकं ब्रह्म, द्वितीयं नास्ति।

अर्थात्— इस विश्व में सर्वत्र आत्मा व्याप्त है और आत्मा के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

किसी ने आत्मा को अंगूठे के बराबर माना है। उन के मत से आत्मा अंगूठा जितनी जगह मे ही रहता है। जैन संसारी आत्मा को

शरीरप्रमाण मानते हैं। इस प्रकार आत्मा के परिमाण के विषय में अनेक परस्पर विरोधी मान्यताएं मौजूद हैं। इस कारण आत्मा कितने प्रदेश वाली है और कितने प्रदेश वाली नहीं है, ऐसी शंका होना देश-शंका है।

इसके विरुद्ध आत्मा का अस्तित्व है या नहीं? ऐसी शंका होना सर्वशंका है।

इस प्रकार किसी को देशशंका और किसी को सर्वशंका होती है। मगर दोनों ही प्रकार की शंकाएँ घातक हैं। देशशंका भी नास्तिकता की ओर ले जाती है और सर्वशंका भी।

आत्मा है या नहीं ? ऐसी शंका इन्द्रभूति गौतम स्वामी को हुई थी। यह तीन भाई थे— इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति। ये उच्च कुलीन ब्राह्मण थे। गौतम इनका गोत्र था। तीनो भाई चारो वेदों, अठारह पुराणों और संस्कृत भाषा के दिग्गज धुरन्धर विद्वान थे। प्रत्येक भाई का पाँच-पाँच सौ शिष्यो का परिवार था। यज्ञ करना-कराना ही इनका मुख्य काम था। भारतवर्ष मे बड़े प्रतिष्ठित विद्वान् गिने जाते थे।

मगर प्रकाण्ड पंडित होने पर भी, वेदों के पारगामी होने पर भी इन्द्रभूति जी को आत्मा के अस्तित्व के संबंध मे शंका थी। उनके

शंका-शल्य का उद्धार करने वाला कोई नहीं मिला।

सज्जनों! शंका का समाधान करना—शंका को निकालना आसान नहीं। कभी – कभी मामूली बुखार को भी निकालना कठिन हो जाता है तो जब भारी बुखार चढ़ा हो तो उसे बड़ा होशियार और अनुभवी डाक्टर ही निकाल सकता है। जो रोग की सम्यक् प्रकार से परीक्षा कर सकता हो वही रोगी का ठीक तरह से इलाज कर सकता है। रोग कुछ और हो और दवा कुछ और दे दी जाय तो मामला गड़बड़ में पड़ जाता है, लेने के देने पड़ जाते हैं। इसीलिए तो कहते हैं कि नीम हकीम से जान को हरवक्त खतरा रहता है। अनजान हकीम से प्राणों को संकट होना स्वाभाविक है।

किसी वैद्यराज के पास एक नौकर रहता था जो उन के नुसखे के मुताबिक दवाइयाँ कूट छान कर तैयार करता रहता था। कभी-कभी पर्चे क मुताबिक दवा भी दे देता था। इस प्रकार काम करते-करते कितना ही समय गुजर गया।

एकबार वैद्यराज दूसरे गाँव में इलाज करने जा रहे थे। साथ में नौकर भी था। रास्ते में उन्होंने क्या देखा कि एक ऊंट वाला बैठा रो रहा है। यह देखकर वैद्यराज ने उस से पूछा— भाई, क्या बात है? क्यों चिन्तातुर हो? क्या तबियत ठीक नहीं है? उसने रोते हुए

कहा— मेरा दो तीन सौ रुपये का ऊँट है और वह तड़फ रहा है और खाता - पीता नहीं है। अब मैं क्या करूँ, कुछ समझ मे नहीं आता। मेरे घर का वसीला यही ऊँट है। इसी से मैं भाड़ा कमाता हूँ और अपने बाल बच्चों का निर्वाह करता हूं। अगर कोई मामला ऊँचा–नीचा हो गया तो मेरा हाल बेहाल हो जायगा।

इतना कहने के पश्चात् उसने पूछा— आप कौन हैं?

नौकर बोला– आप नामी वैद्यराज हैं।

ऊँट वाला– वैद्यराज जी! मेरे ऊँट को अच्छा कर दीजिए।

नौकर– क्या दोगे?

ऊँटवाला– पचास रुपये दे दूंगा।

वद्यराज– कोई बात नहीं, जो तेरी मर्जी हो दे देना।

वैद्यराज चुस्त–चालाक और होशियार थे। उन्होंने ऊँट को इधर–उधर से देखा और पूछा– यह चरने कहां गया था?

ऊँटवाला– काचरे के चीभड़ के खेत मे गया था।

वैद्यराज जी समझ गये कि सास रुक रही है, कठावरोध हो गया है। हो न हो, इसके गले मे काचरा चीभड़ अटक गया है। उस ने दो पत्थर मँगवाये। एक गर्दन के नीचे और एक ऊपर रख कर जोर से मारा तो वह अटका हुआ काचरा अन्दर ही अन्दर फूट गया और गले के नीचे उतर गया। बस, उसी समय ऊँट की आंखें खुल गई

और वह चरने लगा।

ऊंटवाले ने प्रसन्नता के साथ वैद्यराज को पचास रुपये दे दिये। वैद्यराज जी गांव मे इलाज करने आगे चले गये।

यह सब बातें वैद्यराज के नौकर के सामने ही हुई थीं। उस ने सब देखा और मन मे सोचा— यह तो मामूली सी बात । इस प्रकार इलाज करने मे कुछ भी पैसा खर्च नहीं करना पड़ता। वैद्यराज मुझे थोड़ी-सी नौकरी देते हैं, तो मैं अपना काम अलग क्यों न करने लगूं?

दोनो लौट कर अपने गांव में आ गए तो नौकर ने कहा— अब मैं हर्गिज नौकरी नहीं करूंगा।

वैद्यराज— क्या बात है? गुजर न होता हो तो कुछ वेतन बढ़ा दूं!

मगर नौकर ने हठ पकड़ ली और कहा— मुझे तो किसी भी हालत मे नौकरी नहीं करनी है।

नौकर अपना हिसाब चुकता करके अपने घर आ गया। दूसरे ही दिन एक दुकान किराये पर लेकर मुहूर्त्त कर दिया। अपने नाम का साइन-बोर्ड बनवा कर लटका दिया और बाजार तथा देहात मे पर्चे छपवा कर बंटवा दिये। पर्चों में छपा था— जिसकी बीमारी ला-इलाज हो गई हो, जिसकी कोई चिकित्सा न कर सकता हो, उसका इलाज

मैं करूंगा।

इस प्रकार विज्ञापन देख कर लोग भी आने लगे। उन मे से कितनेक को पुण्योदय के कारण लाभ भी होने लगा। क्योंकि पुण्यो-दय से राख की चिमटी भी काम कर जाती है और आराम हो जाता है, किन्तु पाप का उदय होने पर अच्छी से अच्छी दवाएँ और डाक्टर की कुशलता भी बेकार सिद्ध होती हैं।

तो जब लोगो को आराम होने लगा तो महामहोपाध्याय वैद्य-राज जी की शोहरत भी शहर में होने लगी और लोग बातें करने लगे कि— भाई, वाह ! वैद्यराज जी बड़े होशियार हैं। इनकी दवा खाली नहीं जाती।

एक समय की बात है। उसी गांव मे एक बुढ़िया बीमार हो गई। उसके चार बेटो ने बहुत सा इलाज कराया, कई डाक्टरों और वैद्यों की दवा पिलाई, मगर उस का रोग नहीं घटा, बल्कि बढ़ता ही गया। तब उन्होने इन वैद्यराज की प्रशंसा सुन कर इन्हे बुलाया। वैद्यराज ने बुढ़िया का गला कुछ सूजा देख कर पूछा— यह चरने कहां गई थी?

अनोखा-सा प्रश्न था। सुन कर चारो लड़के वैद्यराज के मुख की ओर देखने लगे। तब वैद्यराज ने पुनः कहा— कहते क्यो नहीं

कि यह काचरे के खेत में चरने गई थी। लड़कों ने सोचा— यह कोई टोटका होगा। अतएव वैद्य के कहने से उन्होंने कह दिया-हां, साहब, यह काचरे के खेत मे चरने गई थी।

यह सुनकर वैद्यराज ने फर्माया— बस, इसका रोग अब में ठीक तरह समझ गया और अभी-अभी अकसीर इलाज किये देता हूँ। देखो, जल्दी दो पत्थर ले आओ।

पत्थर आ गये। एक बुढिय की गर्दन के नीचे रक्खा और दूसरे को ऊपर से मारा। इतने जोर से मारा कि उसकी दोनों आंखें और जीभ बाहर निकल पड़ी। बुढ़िया की इहलोक-लीला समाप्त हो गई और वह परलोक चली गई उसकी निस्तब्ध दशा देख कर वैद्य ने कहा— लो, बुढ़िया का रोग समूल नष्ट हो गया। अब तुम्हें तनिक भी चिन्ता न करनी पड़ेगी।

लड़कों ने यह हाल देखा और कहा— रोग मूल से चला गया या रोगी चल बसा!

वैद्यराज गंभीरतापूर्वक बोले— भाई, इलाज तो मैंने सौ फीसदी बढ़िया किया है, मगर तुम्हारा भाग्य है कि बुढ़िया भी साथ ही खत्म हो गई।

तो कहने का आशय यह है कि वैद्य का काम बड़ी जिम्मेवारी

का होता है। रोगी की नीरोगता और मृत्यु उस की मुट्ठी में रहती है। अतएव नीम हकीमो से सदैव बचते रहना चाहिए।

हाँ, गौतम स्वामी को भी शका का भयंकर रोग उत्पन्न हो गया था कि आत्मा है या नहीं ? इन्हे बड़े बड़े वैद्यराज मिले थे, मगर कोई भी वैद्य उन के रोग का उपशमन नहीं कर सका था। आखिर जब रोग मिटने का अवसर आया तो उसी नगरी में भगवान् महावीर स्वामी पधार गये। गौतम जी अपनी शिष्यमण्डली के साथ वहाँ यज्ञाहुति मे संलग्न थे। वेद के महामन्त्र पढ़े जा रहे थे। उसी समय नगरनिवासियों को देवदुंदुभी से पता चला कि भगवान् महावीर बाहर बग़ीचे मे पधारे हैं। यह मालूम होते ही जनसमुदाय उसी ओर उमड़ पड़ा। टोलियो की टोलियाँ उधर ही चल पड़ीं। लोगों में अपार हर्ष और अपूर्व उल्लास था। देवता और इन्द्र भी अपने-अपने विमानों में बैठ कर भगवान् की परम पावन उपासना के लिए आने लगे। जब इन्द्रभूति ने और दूसरे पण्डितो ने अपने यज्ञमण्डप के ऊपर से गुजरते हुए और सर्र - सर्र करते हुए विमानों को देखा तो उन्हे आश्चर्य हुआ कि देवताओ के विमान आ तो रहे है वेदमंत्रो से आकृष्ट होकर, किन्तु यहाँ न रुक कर आगे क्यो चले जा रहे हैं?

आखिर पण्डितो ने पूछताछ की तो पता चला कि नगर के बाहर भगवान् महावीर पधारे हैं, अतएव जनता भगवान् के समव-

सरण में दर्शन करने तथा उनका उपदेश सुनने जा रही है।

गौतम जी बड़े अभिमानी थे । उन्हें अपनी विद्वत्ता पर बड़ा गर्व था। अतएव उन्होंने सोचा– यह विमान तो हमारे यज्ञ के लिए आये थे, किन्तु महावीर ऐसा इन्द्रजालिया, पाखंडी और ढोंगी है कि उसने हमारे आगन्तुक ग्राहकों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया . चलो, आज उस पाखंडी को परास्त करने का अच्छा अवसर हाथ लगा है। मैं अभी उस के पास जाता हूँ और उसे शास्त्रार्थ मे पराजित करता हूँ। मैं उसकी प्रतिष्ठा धूल में मिला दूँगा !

इस प्रकार अभिमान में चूर होकर गौतमजी ने यज्ञ की हवन-क्रिया को तो बालाएताक रख दिया और अपने ५०० शिष्यों के साथ और दूसरे अतिथियों को साथ लेकर, अपनी वृहत् विरुदावली बोलवाते हुए, जय-जय घोष से गगन गुंजाते हुए प्रस्थान किया।

सज्जनो ! जब बुखार उतार पर होता है तो उसका टेम्परेचर हाई हो जाता है। हड्डियों में बुखार रहना खतरनाक है। धीरे-धीरे वह टी. बी. का रूप धारण कर लेता है। किन्तु जब टेम्परेचर हाई हो जाय तो समझ लेना चाहिए कि अब बुखार निकल जाने वाला है।

तो गौतम जी का अभिमान - ज्वर भी ऊंचा हो गया था। वे

हाथी की तरह मस्ती में झूमते हुए समवसरण में प्रविष्ट हुए और भगवान् के सामने जाकर ठूंठ की तरह सीधे खड़े हो गए। भगवान् आई हुई परिषद् को धर्मदेशना दे रहे थे।

गौतम जी ने समवसरण की दिव्य रचना देखी और अपूर्व लावण्य एवं ओज से परिपूर्ण भगवान् की मुखाकृति देखी। भगवान् के मुखमण्डल पर अत्यन्त प्रभावोत्पादक झलझलाहट थी। उसे देखते ही गौतम का आधा अभिमान गल गया। वे कुछ सोच-विचार कर ही रहे थे कि भगवान् ने उन्हें सबोधन करके कहा– 'आइए इन्द्रभूति गौतम जी, आपका स्वागत है।' गौतमजी, इस समय आपका आना अच्छा है।'

भगवान् को अपने नाम और गोत्र का उच्चारण करते सुना तो वह सोचने लगे– यह बड़े ठग मालूम होते हैं। मेरा नाम और गोत्र इन्हें कैसे मालूम हो गया? मगर इसमें आश्चर्य भी क्या है? मैं संसार-प्रसिद्ध पण्डित हूँ। मुझे कौन नहीं जानता? इसके अतिरिक्त ठग लोग पहले से ही सब पूछताछ करके तैयार रहते हैं। अतएव मैं इतने मात्र से कैसे मान लूँ कि महावीर सर्वज्ञ है? मैं धुरन्धर विद्वान् हूँ और मेरी विद्वत्ता की धाक सभी दिशाओं में व्याप्त है।

इसके पश्चात् गौतम ने विचार किया– हाँ, महावीर अगर मेरे

मन में पैठी हुई शंका को जान लें और उसे प्रकट कर दें तो मैं समझूंगा कि यह सर्वज्ञ हैं।

उसी समय भगवान् ने कहा— गौतम !· तेरे मन मे तीन प्रकार की शंकाएँ हैं। वेद मे जो तीन दकार आये हैं, उन के विषय मे तुझे शंका है और उस शका का समाधान करने वाला तुझे कोई नहीं मिला है। प्रथम दकार दान का सूचक है। वह दकार बतलाता है कि– ऐ मनुष्य ! यदि तेरे पास देने की कुछ शक्ति है, वस्तु है तो तू अवश्य दान कर। धनवान् धन दे, विचारवान् विचार दे, तनवाला तन, वस्त्र वाला वस्त्र और ज्ञान वाला ज्ञान दे। इस प्रकार प्रथम दकार कहता है कि तुझे जो धन, वस्त्र, अन्न, विद्या, बुद्धि, शक्ति आदि जो कुछ प्राप्त है, वह तेरे लिए ही नहीं है, किन्तु दूसरों को भी वितरण करने के लिए है। अतएव उन वस्तुओ से दूसरों को लाभ पहुँचाओ।

दान दोनों घरों में प्रकाश करने वाला है। देने वाला पुण्य का भागी होता है और लेने वाले की आवश्यकता पूरी हो जाती है तो उसका संकल्प-विकल्प, आर्तध्यान और अभाव दूर हो जाता है। इस से दोनों को ही परम लाभ की प्राप्ति होती है।

मगर दान प्रत्येक से नहीं दिया जाता। जिसने दानान्तराय

कर्म को तोड़ा हो, वही दान दे सकता है । यह पहले दकार का आशय है ।

दूसरा दकार सूचित करता है कि तुझे बल मिला , शक्ति मिली है, दिल और दिमाग़ मिला है तो उस के द्वारा तू दुःखियों पर दया कर । दया से बढ़ कर दूसरा कोई धर्म नहीं हो सकता । दया सर्वोत्कृष्ट धर्म है ।

तीसरे दकार का आशय है– इन्द्रियों का दमन करना । अगर तू आत्मा का उत्थान चाहता है, निर्वाण चाहता है, ज्ञान चाहता है और सभी दुःखो से मुक्ति चाहता है तो इन्द्रियो का दमन कर।

किन्तु इन तीनों दकारों का संबंध किसके साथ है? इनका संबंध आत्मा के साथ है। आखिर दान कौन देगा ? दया कौन करेगा ? इन्द्रियों का दमन कौन करेगा ? इन सब प्रश्नो का उत्तर आत्मा में गर्भित है। आत्मा ही सब कुछ करने वाला है। जड़ पदार्थ न लेने में समर्थ है, न देने में समर्थ है, न इन्द्रियदमन करने में और न दया करने में ही समर्थ है। रबड़ के छोकरा-छोकरी के फेरे फिरा दिये जाएँ तो उनसे सन्तानोत्पत्ति नहीं हो सकती। अतएव लेने वाला, देने वाला, इन्द्रियदमन करने वाला और जीवों पर दया लाने वाला आत्मा-चेतन ही हो सकता है। और यदि एक तरफ जड़ और दूसरी तरफ चेतन

हो तो भी जड़ को पता ही नहीं चल सकता कि कौन देता है और कौन ले रहा है?

जब दुकानदार भी चेतन है और ग्राहक भी चेतन है तो सौदा फौरन पट जायगा और ग्राहक को माल तथा दुकानदार को दाम मिल जायगा। वहां आदान - प्रदान की क्रिया सम्पन्न हो सकेगी। इसके विपरीत अगर दुकानदार रबड़ का पुतला हो और ग्राहक चेतन हो तो मामला बिलकुल नहीं बन सकता। वहाँ सौदा नहीं पटेगा। अतएव दोनो का चेतन होना नितान्त आवश्यक है।

मगर अफसोस है कि दुकानदार को पता ही नहीं कि मेरी दुकान पर कौन—कौन ग्राहक आया है, उन्हे क्या चाहिए, उन्हें क्या चीज दूँ, तो ऐसा दुकानदार क्या खाक चीज देगा?

तो भगवान् ने यहां प्रश्न रख दिया तीन दकारो का। किन्तु गौतमजी तो आत्मा के विषय मे ही शंकाग्रस्त थे। यदि आत्मा संबंधी उनकी शंका दूर हो जाती तो तीन दकारो की शंका भी निर्मूल हो जाती। इन विषयो को तो साधारण व्यक्ति भी समझ सकता है, किन्तु जब मूल मे ही शंका हो अर्थात् आत्मा पर ही विश्वास न हो तो तीन दकारो को समझना कठिन है।

दान किसे देना चाहिए? चेतन को! देने वाला कौन? चेतन।

दया किसकी ? चेतन की। दया करे कौन ? चेतन। इन्द्रियदमन किसका ? चेतन का। इन्द्रियदमन कौन करे ? चेतन। तो भगवान् ने सब से पहले इसी बात पर जोर दिया कि तेरे तीन दकारों की समस्या नहीं सुलझ रही है तो इसका कारण यह है कि तेरी आत्मा की ही गुत्थी नहीं सुलझ रही है। तुझे अभी तक यही शंका बनी है कि आत्मा है अथवा नहीं !

तो भगवान् ने कहा—गौतम ! बोलो, तुम्हारे हृदय मे आत्मा के अस्तित्व के विषय मे शंका है या नहीं?

भगवान् तो अन्तर्यामी थे, त्रिकालज्ञ थे, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी थे। वे सभी कुछ जानते और देखते थे। भगवान् की बात सुनकर गौतम सहम गये। वे विद्वान् तो थे और अभिमानी भी थे, मगर हठी नहीं थे।

आपको विदित है कि मिथ्यात्व अत्यन्त प्रबल विकार है जिस ने आत्मा पर अनादि काल से कब्जा कर रक्खा है। मिथ्यात्व के प्रभाव से आत्मा अपने आप को पहचान नहीं पाता।

आत्मा ने अनन्त काल से मिथ्यात्व की मदिरा पी रक्खी है। उसी मे यह छका हुआ है और मोह-निद्रा मे मस्त होकर सो रहा है। वह अपनों को ग़ैर और ग़ैरों को अपना समझ रहा है। भाई को

साला और साले को भाई तथा माई को लुगाई और लुगाई को माई मान रहा है। ऐसे ही भाव मदिरापान करने वाले के होते हैं। जब तक मदिरा का नशा उतर नहीं जाता तब तक उसकी ऐसी ही विपरीत विचारणा और धारणा बनी रहती है। मदिरा का वह नशा मिठाई खाने से नहीं उतरता, वह तो खटाई अर्थात् प्राचार आदि खाने से उतरता है। जब तक नशे के विरोधी तत्त्वों का सेवन न किया जाय तब तक वह नहीं उतरता।

फरीदकोट (पंजाब) की बात है। गर्मी की मौसम थी। एक जाट ने बहुत अधिक मदिरापान कर लिया। प्रथम तो गर्मी की मौसम और ऊपर से अधिक मदिरापान! मदिरा की गर्मी भी बड़ी तेज होती है। उसके शरीर में दाह होने लगी। गर्मी शांत करने के लिए उसके साथियों ने उसे तालाब में पटक दिया। जब उससे भी शांति न हुई तो किसी ने कहा— इसे केरी (आम) का खट्टा प्राचार खिलाओ तो नशा जल्दी उतर जायगा।

सज्जनो! यह द्रव्य नशा ही ऐसा है कि बादाम की चक्की हलुआ या अन्य किसी मिठाई से नहीं उतरता। उसे उतारने के लिए तो खट्टा आचार चाहिए।

तो मैं कह रहा था कि आत्मा में जब तक मिथ्यात्व है और

मिथ्यात्व का नशा है, जब तक दर्शनमोहनीय कर्म उपशांत नहीं होता है, तब तक मनुष्य को साक्षात् ब्रह्मा भी आकर समझावे, तो भी वह समझ नहीं सकता। किन्तु ज्यों ही नशा उतरने लगता है, फौरन समझ दुरुस्त हो जाती है।

इसी प्रकार जब गौतम जी का नशा उतार पर आया और भगवान् ने थोड़ा-सा खट्टा आचार दे दिया, अर्थात् थोड़ा-सा तत्त्व-कथन किया कि नशा उतर गया। उन्होंने कहा— हे गौतम! तुझे आत्मविषयक शंका है कि आत्मा का अस्तित्व है अथवा नहीं?

यह सुनते ही गौतम ने कहा— भगवन्! आप यथार्थ कहते हैं।

भगवान् ने एक ही बात कही और वह गौतमजी के दिमाग़ में ठस गई। भगवान् ने पुनः फर्माया— गौतम! आत्मा के विषय मे शंका होना ही आत्मा की सिद्धि करना है। उस शंका से ही आत्मा की पुष्टि होती है। जानते हो कि शंका किसको होती है? शंका करना आत्मा का ही धर्म है, पुस्तक का या कपड़े का धर्म नहीं है। जड़ वस्तु शंका नहीं कर सकती। अतः आत्मा का अस्तित्व न होता तो आत्मा के विषय में शंका कौन करता। गौतम, जरा समझो, सोचो, विचार करो।

सज्जनो! सच्चे महापुरुषों की वाणी में, विचारों में और भावों मे वह शक्ति होती है कि मृतक भी उठ खड़ा होता है। फिर

गौतम की आत्मा तो जागृत होने को थी। गौतमजी में इतनी योग्यता थी, वे इतने विद्वान् थे कि उनके लिए थोड़े से ही सहारे की आवश्यकता थी। अतएव भगवान् ने कहा— गौतम ! तू और कुछ मत सोच और अपनी विचारशक्ति एक ही वस्तु में केन्द्रित कर ले। पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म आदि सब तरफ से अपने आप को खींच कर अपनी सम्पूर्ण शक्ति को एक तरफ ही लगा दे। तू यही सोच कि शंका किस को होती है ? क्या जड़ पदार्थ में शंका करने का सामर्थ्य है ? नहीं, शंका आत्मा को ही होती है। यह बात इतनी स्पष्ट है कि इसके लिए वेद का श्लोक या अध्याय खोजने की आवश्यकता नहीं है। गौतम ! इस प्रश्न का उत्तर तो तेरे अंदर मे ही छिपा हुआ है। इस प्रश्न को हल करने के लिए पहाड़ो, नदी-नालो, खालों में भटकने, डूबने या माथा फोड़ने की आवश्यकता नहीं है। अभिप्राय यह है कि आत्मा के विषय में शका करने वाला स्वय आत्मा ही है। आत्मा न होती तो शंका भी न होती।

हे गौतम ! इस मनोराम -मन—को अब थोड़ी देर के लिए इधर-उधर मत जाने देना। नहीं तो बना-बनाया खेल बिगड़ जायगा। सब चौपट हो जायगा।

बस, इतना सुनना था कि मिथ्यात्व, समकित के रूप में पलट

गया। जो ताला बंद था, भगवान् की वाणी रूपी चाबी लगते ही खुल गया। ताला खुलते ही गौतम जी को अंदर समकित - रत्नो से भरा भंडार प्राप्त हो गया। गौतम जी सम्यग्दृष्टि बन गये। संशय का निवारण हो गया। वे गुणोपासक थे। अपने पाँच सौ शिष्यो के साथ भगवान् के सन्निकट दीक्षित हो गये। गौतम स्वामी चरमशरीरी थे। उन्होंने उसी भव मे मोक्ष प्राप्त किया।

तो जिन्होंने भगवान् के वचनों मे श्रद्धा की वे तो तिर गये, किन्तु जो बिना पेंदी के लोटे हैं, जो मेरे पास बैठे तो मेरे और तुम्हारे पास बैठे तो तुम्हारे— ऐसे कान के कच्चे हैं, जो जैसी फूंक मारो वैसे ही हो जाते हैं, जिन्होने निज की अकल का दिवाला निकाल रक्खा है और जो दूसरों की मानते नहीं, वे कोरे के कोरे रह जाते हैं। उनकी आत्मा का कल्याण नहीं होता। ऐसे लोग गुरु की तो तब मानें जब अपने को गुरु से छोटा समझें। जो अपने आप को गुरु से भी बढ़ कर समझते हैं, वे गुरु की बात कब मान सकते हैं!

सज्जनो! वक्त निकल जाता है, बात रह जाती है। यह सुनहरी जीवन बार - बार नहीं मिलने वाला है। अतएव शीघ्र समझो और समकित को दृढ़ करो।

तो बात यह चल रही है कि भगवान् वीतराग के वचनो में

शंका नहीं होनी चाहिए। शंका हो तो अश्रद्धापूर्वक नहीं होनी चाहिए। शका तो गौतम स्वामी को भी होती थी, किन्तु अश्रद्धापूर्वक नहीं होती थी, जिज्ञासा की बुद्धि से होती थी। जब शंका होती, वे भगवान् के चरणों मे उपस्थित हो जाते और प्रश्न करते— भगवन्! अमुक बात किस प्रकार है? भगवान् उनकी शंका का समाधान कर देते थे।

अभिप्राय यह है कि वीतराग के वचन मे जिज्ञासापूर्वक शंका करना मिथ्यात्व नहीं है, वरन् अश्रद्धापूर्वक शंका करना मिथ्यात्व है।

पहले बतलाया जा चुका है कि शंका दो प्रकार की है— देश-शंका और सर्वशका। वस्तु के एक किसी अंग मे शंका होना देशशंका है और अनन्त धर्मात्मक समग्र वस्तु मे शंका होना सर्वशंका है। स्मरण रखना चाहिए कि देशशंका धीरे-धीरे बढ़ती-बढ़ती सर्वशंका का रूप धारण कर लेती है। आप को विदित ही है कि मकान की एक ईंट निकल गई तो फिर दूसरी भी निकलने की तैयारी करने लगती है और फिर एक दिन ऐसा आता है कि सारा का सारा मकान ही धराशायी हो जाता है। हो सकता है कि गिरता हुआ वह मकान अपने पड़ौसियो को भी ले बैठे।

अतएव यह आवश्यक है कि जब जरा सी भी शंका उत्पन्न हो तभी उस विषय के विशेषज्ञो से समाधान कर लिया जाय। प्रयत्न

करो कि वह एक ईंट भी निकलने न पावे । उसे झट वापिस लगा दो ताकि दीवार गिरने की नौबत ही न आ पावे ।

पानी को रोका न गया तो चारों ओर स्थान मिलते ही वह फैल जाता है और गांवों को बहा ले जाता है । इस कारण ज्ञानी पुरुषों ने भारपूर्वक कहा है कि भगवान् के वचनों में अश्रद्धा भाव से शंका मत करो । यह दर्शनाचार का प्रथम निःशंकित आचार है ।

जैसे छत को कायम रखने के लिए उस के नीचे स्तंभ लगाये जाते हैं, उसी प्रकार समकित रूपी छत को कायम रखने के लिए आठ प्रकार के आचार रूप स्तंभ हैं ।

सदा सर्वत्र अविश्वास करना विनाश का कारण है। अविश्वासी किस प्रकार नष्ट हो जाता है, इस बात को समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए:—

सज्जनो ! अमेरिका आज माना हुआ धनी देश है । दूसरे देश उसके मुंह की ओर देखते रहते हैं। उसकी शक्ति अपरिमित है । वह जिसे चाहे मिटा सकता है और ऊपर भी उठा सकता है ।

हाँ, तो उसी अमेरिका में एक व्यक्ति ने ऐसा अपराध किया कि उसे प्राणदंड मिला । यह समाचार जब वहाँ के वैज्ञानिकों-परि-

शोधकों को मिला तो उन्होने सोचा कि आखिर वह आदमी मारा तो जायगा ही, अगर उससे कोई परीक्षण कर लिया जाय तो क्या हर्ज है? उसकी मृत्यु से कुछ लाभ उठा लिया जाय तो अच्छा ही है। उन्हे अपराधी मिल गया और उन्होने यही परीक्षण करना चाहा कि विश्वास-अविश्वास एवं श्रद्धा-अश्रद्धा का जीवन पर क्या असर पड़ता है!

आखिर मृत्युदंड प्राप्त अपराधी को एक कमरे में कुर्सी पर बिठलाया। उसकी आँखो पर पट्टी बांध दी गई। तत्पश्चात् परीक्षण कर्त्ताओ ने उसे कहा— अब तुम्हे मृत्यु के लिए तैयार हो जाना चाहिए।

अपराधी बोला— जो आपकी मर्जी हो। कीजिए। मुझे तो किसी न किसी रूप में मरना ही है। परीक्षणकर्त्ताओ ने उसके शरीर मे एक चाकू से मामूली चीरा लगाया और उस पर नली द्वारा पानी डालना शुरु किया। सब लोग उसे सुना-सुना कर कहने लगे—ओह! अरे! बेचारे के शरीर से कितना खून बह रहा है! इतना खून निकल जाने पर यह जीवित नहीं रह सकता।

ज्यों-ज्यो लोग बातें करने लगे उसके दिल में विश्वास होने लगा कि मैं अवश्य मर जाऊँगा, क्योंकि मेरे शरीर से रक्त की धारा प्रवाहित हो रही है। अब बचना असंभव है।

इस प्रकार का विचार उत्पन्न होते ही उसके शरीर पर ऐसा असर पड़ा कि नाड़ियाँ टूटने लगीं और शक्ति क्षीण होने लगी। यद्यपि न रक्त निकला और न कोई कष्ट हुआ, तथापि उसके हृदय में रुधिरस्राव की शंका उत्पन्न कर दी गई और उसी शंका के कारण उसके प्राणों का अन्त हो गया।

इस प्रयोग से वैज्ञानिकों ने यह निष्कर्ष निकाला कि मनोभाव शरीर पर गहरा असर डालते हैं।

तो जो लोग वीतराग के वचनों पर शंका करते हैं, वे जिंदे ही मरे हुए के समान हैं। उन्हें भव - भव में मरण करना पड़ता है। अतएव भगवद्-वचनों पर शंका न रख कर अटल, अचल विश्वास रक्खो। भगवान् के वचनों पर अविचल श्रद्धा रखने वाले संसार-सागर से तिर जाते हैं।

ब्यावर
२५-६-५६

॥ ८ ॥

सम्यग्दर्शन के अन्य आचार

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः, सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः, पूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्त-सुपाठका मुनिवरा, रत्न-त्रयाराधकाः,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं, कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

उपस्थित सज्जनो !

कल आप को बतलाया गया था कि सुदृष्टि जीव भगवान् के वचनों में अश्रद्धा एवं शंका नहीं करता। यह भी कहा गया था कि यों शंका हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है। किसी वस्तु के विषय में संशय दूर करने के लिए, परिमार्जन करने के लिए शंका होना बुरी बात नहीं है। उससे ज्ञान की वृद्धि होती है। किन्तु वह शंका श्रद्धा

के साथ होनी चाहिए। अश्रद्धापूर्वक की जाने वाली शंका आत्मा को सम्यक्त्व से गिरा देती है। इसी कारण दर्शन के आठ आचारों में सब से पहले निश्शंकित आचार बतलाया गया है, जिसका अर्थ है—भगवान् के वचनों में शंका न करना।

सम्यग्दर्शन का दूसरा आचार निःकांक्षित होना है। अर्थात् सत्य के प्रति इतनी निष्ठा — दृढ प्रतीति हो कि वीतराग शासन के सिवाय किसी भी प्रकार के आडंबर के प्रति आकांक्षा न हो। मिथ्यात्व को ग्रहण करने की इच्छा नहीं होनी चाहिए। असत्य की ओर अभिरुचि नहीं होनी चाहिए, बल्कि उपेक्षा का भाव रहना चाहिए।

जो असत्य की राह पर चल रहा हो, वह चाहे अपने आप को जैन ही क्यों न कहता हो, उससे दूर ही रहना चाहिए; क्योंकि विष हर हालत में विष ही है, चाहे वह किसी के पास हो।

जिसे सत्य का मार्ग मिल गया है, जिसने सत्य की उपलब्धि कर ली है, उसे असत्य की इच्छा नहीं हो सकती। रत्न पा लेने पर पत्थर से माथा फोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं होती। जिसे रत्न-कंबल मिल गया उसे कैदियों के काले कंबल को ओढ़ने की अभिलाषा नहीं हो सकती। इसी प्रकार जिसको सत्य का प्रकाश मिल गया, वह प्रकाश की ओर ही जायगा और अंधकार की ओर जाना पसंद नहीं

करेगा। अंधकारप्रिय तो निशाचर होते हैं। उलूक, चमगीदड़ आदि को ही अंधकार प्रिय प्रतीत होता है। जो शाकाहारी होते हैं वे दिन ही पसंद करते हैं।

तो सम्यग्दृष्टि को निशाचरों की तरफ नही जाना चाहिए बल्कि दिन के प्रकाश मे विचरण करने वालों की तरफ ही जाने की भावना रखनी चाहिए। इसी प्रकार जो मिथ्यात्व के तिमिर में विचरते हैं, उनका अनुगामी न बन कर सम्यग्दृष्टि को उन्हीं के पथ पर चलना चाहिए। जो प्रकाश को पसंद करते हैं, उन्हें उल्लू का साथी न बन कर मयूर और कोयल आदि प्रकाश मे विचरण करने वालों का अनुकरण करना चाहिए।

मगर संसारी आत्मा मे एक बड़ी दुर्बलता है। मिथ्यात्व की ओर अनायास ही उसका दिल चला जाता हैं। उसे वश मे करना और रखना बड़ा कठिन है। जब हम सुनते हैं कि अमुक पर्वत पर या अमुक स्थान पर बड़ा मेला लगने वाला है, हजारों - लाखों नर-नारी इकट्ठे होंगे और करोड़ो रुपये खर्च होंगे, तो स्वभावतः उस ओर रुचि आकर्षित हो जाती है। हृदय गवाही देने लगता है— इतने सब—मूर्ख ही मूर्ख तो नहीं हैं। वहाँ कुछ न कुछ तो अच्छाई होनी ही चाहिए। तभी तो लाखों स्त्री-पुरुष वहाँ जा रहे हैं। हाँ भाई!

वहाँ कुछ न कुछ तो है ही। सम्यक्त्व नहीं तो मिथ्यात्व तो मौजूद ही है।

कई भोले लोग बहुसंख्या को सत्य की कसौटी बना लेते हैं और कहते हैं— देखो साहब ! उधर कितने लोग जा रहे हैं ! इधर तो थोड़े ही आते हैं। मगर मैं पूछता हूँ आपसे कि दुनिया मे अक्ल वाले अधिक हैं अथवा मूर्ख अधिक हैं? सज्जनो ! यदि बुद्धिमान् थोड़े हैं तो थोड़ा समझ कर उनकी उपेक्षा नहीं करना चाहिए। दुनिया में हीरा, माणिक, मोती आदि रत्न थोड़े और कंकर पत्थर ज्यादा हैं, तो क्या कंकर-पत्थर अधिक अच्छे हैं और हीरे-पन्ने बुरे हैं ? मूल्यवान् पदार्थ संसार मे थोड़े ही होते हैं। उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

इसी प्रकार धर्म के, सम्यक्त्व के अनुयायी थोड़े हैं और मिथ्यात्व को अंगीकार करने वाले अधिक हैं। फिर भी यह निश्चित है कि धर्म से ही आत्मा का कल्याण होगा। और धर्म की सत्यता का निर्णय मतदान-वोटिंग से नहीं हो सकता। अधिक लोगो की मान्यता सत्य की कसौटी नहीं बन सकती। सत्य ऐसा परिवर्त्तनशील नहीं है कि लोगों के मत देने या न देने से अपना स्वरूप पलट दे। अतएव जहाँ धर्म या सत्य की बात हो, वहाँ अल्पमत अथवा बहुमत का प्रश्न

उपस्थित नहीं होता । सत्य, सत्य ही रहेगा, भले उस का अनुसरण करने वाला संसार में एक भी मनुष्य न हो ! और बहुजन समाज के अंगीकार करने से असत्य कदापि सत्य का रूप धारण नहीं कर सकता । अतएव जो सत्य का उपासक है, वह संख्या का नहीं, सत्य का विचार करके सत्य की ओर ही जाएगा, सत्य के प्रति अपने को समर्पित कर देगा और सत्य के चरणों की सेवा करेगा ।

हरिद्वार और कुरुक्षेत्र आदि स्थानो पर दस-दस लाख आदमी इकट्ठे हो जाते हैं । जिस कुरुक्षेत्र मे कुल के कुल नष्ट हो गये, खून की नदियां वह गईं हजारो वेघरवार हो गये, लाखों विधवाएँ हो गईं, अनगिनती वच्चे अनाथ हो गये, उस भूमि को पवित्र मानने का अर्थ क्या है ! जहाँ ४८ कोस के दायरे में मुर्दों को हड्डियां न उठाई गई हों, उसे पवित्र स्थान समझना कहां तक उचित हो सकता है?

वैष्णवों की मान्यता है कि जब तक गंगाजी मे अस्थियां न पहुँचा दी जाएँ तव तक मृतक को सद्गति की प्राप्ति नहीं होती । अतएव वे गंगा मे अस्थियां प्रवाहित करते हैं । और गंगा के पानी को मलीन कर देते हैं । उन्हे यह ज्ञान नहीं कि अस्थियों और राख मे तेजी होती है — क्षार होता है और उसे पानी मे डालने से पानी मलीन होता है । तथा बहुसंख्यक जीवों का भी विनाश होता है । मगर

इतना सोचने-समझने का कष्ट करे कौन? यहाँ तो गाडरप्रवाह है। लोग वस्तुस्थिति का विचार नहीं करते और यही लोकोक्ति चरितार्थ करते हैं कि— 'गतानुगतिको लोकः।' अर्थात् एक की देखा देखी दूसरा चलता है!

कुरुक्षेत्र के सबंध में सुनने में आया है कि-एक बार कौरवों ने ऐसी कठोर भूमि तलाश करने को कहा, जिसे युद्धभूमि बनाया जा सके। आदमी ऐसी भूमि खोजते-खोजते कुरुक्षेत्र मे पहुँचे। वहाँ उन्होंने एक घटना देखी, बडी भयानक और क्रूर। एक जमीदार ने पानी रोकने के लिए मिट्टी की खोज की। किन्तु जल्दी मे आसपास मिट्टी न मिली तो उसने उसी समय अपने लड़के की गर्दन उड़ा दी और धड़ को पानी की पाल बाँधने के काम मे ले लिया। उन आदमियों ने यह इतनी क्रूरता, नृशंसता, निर्दयता और कठोरता देखी तो विचार किया-इससे बढ़कर कठोर भूमि अन्य नहीं हो सकती। अतएव उन्होंने युद्ध के लिए वही भूमि चुनी। वही महाभारत का प्रसिद्ध संग्राम हुआ और लोगों ने जीभर खून की होलियाँ खेलीं। ऐसी अपवित्र भूमि भी आज पवित्र मानी जाती है! जिस भूमि में लाखों, करोड़ों मानवों का रक्त समाया हुआ है, वही आज पवित्र करार दी जा रही है! किन्तु विवेकवान् जन तो उसे राक्षसी भूमि ही समझेंगे!

हाँ, उसे समरभूमि, युद्धभूमि या लड़ाई संबंधी ऐतिहासिक

स्थान कहा जा सकता है, मगर आत्मशुद्धि की भूमि कैसे कह सकते हैं? आत्मशोधन या आत्मसाधना किसी भी भूमि में करो, वह पवित्र भूमि है। योगियों ने अगर किसी विशिष्ट स्थान पर आत्मसाधना की तो उसे वे अपने साथ ही ले गये। उनका कलेवर और वह भूमि ही वहां रह गई। भूमि तो वहीं की वहीं रह गई और जैसी की तैसी रह गई। उस में पवित्रता या अपवित्रता का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। लोगों ने नदी-नाले, पहाड़ वगैरह किसी को नहीं छोड़ा और सब को पवित्र मान कर पूज डाला। किन्तु अरे दुनिया के लोगो! किस भ्रान्ति मे पड़े हुए हो? यह सब बालचेष्टाएँ हैं। उन के पीछे कोई सचाई का तत्त्व नहीं है।

हाँ, तो मैं दर्शन के विषय में बताने जा रहा था। आप समकित धारियों को सुबह-शाम प्रतिक्रमण करते-करते वर्षों व्यतीत हो गये। चौदह नियम चितारते और २६ बोलों की मर्यादा करते-करते पूणिया श्रावक ही कहलाने लगे, किन्तु अभी तक जिनवाणी का मर्म न समझे, आत्मा की ओर उन्मुख न हुए और नदियों, नालों और पहाड़ों में भटकते फिरते हो!

सज्जनो! आडंबर को देख कर लुभाओ मत, ललचाओ मत। यह मत सोचो कि दुनिया वहाँ जाती है तो हम भी क्यों न जाएँ।

जहाँ नाच-कूद होता है, सैर-सपाटे होते हैं, पाँचों इन्द्रियों की पूर्त्ति के साधन उपस्थित होते हैं, दुनिया अनायास ही उधर भागती है, क्योंकि पानी का स्वभाव निचाई की ओर जाने का है। उसे ऊपर चढ़ाने के लिए तो वाटर-पंप लगाना पड़ता है, पर नीचे छोड़ने के लिए कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता। तो जिस प्रकार पानी का ऊपर चढ़ाना ही कठिन है, उसी प्रकार समकित रूपी पानी को आत्मा में चढ़ाना कठिन है, मगर मिथ्यात्व की ओर ले जाने में कुछ भी कठिनाई नहीं होती।

तो पानी का ऊपर चढ़ाना समकित है और नीचे की ओर जाना मिथ्यात्व की ओर जाना है। साईकिल वाले को जब चढ़ाव की ओर जाना होता है तो बहुत जोर लगाना पड़ता है, मगर जब ढलाव आ जाता है तो पैडल मारने की भी आवश्यकता नहीं होती, बल्कि कभी-कभी ब्रेक लगाना पड़ता है। इसी प्रकार त्याग, वैराग्य और आध्यात्मिक जीवन की ओर जाना चढ़ाई के समान है और उस के लिए आत्मा को काफी जोर लगाना पड़ता है, मगर नीचे की ओर गिरने में जोर लगाने की आवश्यकता नहीं होती।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि आडंबर देखकर सम्यग्दृष्टि को उस ओर आकर्षित नहीं होना चाहिए; हृदय में असत्य को स्थान

नहीं देना चाहिए; क्योकि जब हृदय में असत्य अपना आसन जमा लेता है तो फिर वाणी और कर्म मे भी वह आये विना नहीं रहता। अतएव गतानुगतिकता नहीं होनी चाहिए। यह समकिती का दूसरा निःकांक्षित आचार है।

दर्शन का तीसरा आचार है– निर्विचिकित्सा। अर्थात् जो भी धार्मिक क्रियाएँ की जा रही हैं, जो भी अनुष्ठान कर रहे हो, उन के फल के संबंध में शंका नहीं करनी चाहिए। गीता में भी कहा है— ऐ मनुष्य ! तू शुद्ध भावना से, विना किसी आसक्ति के, विना किसी प्रतिफल या मुआवजे के अच्छे कर्म करता चला जा। तुझे फल के विषय मे शंका करने की आवश्यकता नहीं। तेरे कर्म का फल तुझे अवश्य ही प्राप्त होगा। प्रत्येक क्रिया का फल होता है। संसार में कोई क्रिया ऐसी नहीं कि जिसका फल न हो।

सज्जनो ! वृक्ष मे फल लगते ही हैं। वह वृक्ष ही क्या जिस मे फल न लगते हो ! किसी मे मिट्ठा, किसी मे कड़वा और किसी में खट्टा फल लगता है। जिस वृक्ष के मूल मे कटुकता होती है, उस के फल मे भी कटुकता होती है। और मीठे मूल वाले वृक्ष के फल भी मीठे होते हैं। नीम के वृक्ष को देखो। उसका मूल कटुक है तो पत्तों मे, त्वचा मे, टहनी मे और निबोली मे भी कटुकता है। उसके विप-

रीत ईख मे मीठापन होता है तो सर्वत्र - सब भागों मे मीठापन है। आशय यह है कि आपकी क्रिया के मूल मे यदि माधुर्य है तो उस के फल मे भी मधुरता अवश्य होगी। ऐसी कोई क्रिया नहीं जिस का फल न मिले; प्रत्येक क्रिया फलवती होती ही है।

तो क्रिया करते समय मनुष्य को सावधानी वरतनी चाहिए, मगर फल के विषय मे शंका करने की आवश्यकता नहीं। जब तुम अपने मुँह मे मिस्री या पतासा डाल रहे हो तो यह शका करने की क्या आवश्यकता है कि मुँह मीठा होगा अथवा नहीं? थोड़ी-सी बुद्धि वाला भी समझ सकता है कि मिस्री खाने पर मुँह मीठा अवश्य होगा। अतएव इस शका के लिए कोई अवकाश नहीं है। यह बात आपने आजमा रक्खी है, इसमे आपकी पूर्ण निष्ठा है कि मिस्री खाने से मुँह अवश्य मीठा होता है। इसी प्रकार जब किसी सत्य का पूर्ण रूप से अनुभव हो जाता है, आजमाइश हो चुकती है और रह-रह कर सत्य को कसौटी पर कस लिया जाता है और मालूम हो जाता है कि आखिर सत्य की ही विजय हुई है, तो फिर सत्य के प्रति, धर्म क्रियाओं के फल के प्रति शंका नहीं रह जाती।

सम्यग्दृष्टि सत्य के प्रति अखण्ड आस्था रखता है। उसे विश्वास होता है कि सत्य से आनन्द ही प्राप्त होगा। अतएव वह करनी के

फल में आशंका नहीं करता। जैसी करनी होगी वैसा ही फल भी प्राप्त होगा, यह एक अटल नियम है। स्त्री बांझ हो सकती है और संभव है वृक्ष मे फल न लगे, मगर करनी के फल लगेंगे ही, इस मे कोई सन्देह नहीं हो सकता। भोजन करने से भूख मिटेगी और पानी पीने से प्यास बुझेगी। इस मे क्या शंका हो सकती है? नहीं। तो करनी के फल मे भी शका नहीं हो सकती।

इस प्रकार निःशंक भाव से सम्यग्दृष्टि पुरुष धर्म क्रिया करता रहता है। ऐसा करना निर्विचिकित्सा आचार है।

चौथा दर्शनाचार है-अमूढ़दृष्टित्व। जैनशासन का विधान है-तू मूढ़दृष्टि मत बन किन्तु शुद्धदृष्टि बन। तू बुद्धिमान् बन, मूर्ख मत बन।

सत्य से विपरीत विचारणा और धारणा होना मूढ़दृष्टि है। यथा दृष्टिः तथा सृष्टिः, अर्थात् दृष्टि के अनुसार ही मनुष्य का सारा जीवन निर्मित होता है। अतएव सर्वप्रथम अपनी दृष्टि को शुद्ध एवं निर्मल बनाना चाहिए।

पांचवां दर्शनाचार गुणग्राम करना है। जो पुरुष धर्मनिष्ठ हैं, धर्म के पथ पर चलने वाले हैं, गुणवान् हैं, उनके गुणों का गान करने से जिह्वा भी पवित्र हो जाती है। मगर आजकल गुणगान करना

बहुत कठिन है। लोग दूसरों की निंदा और चुगली करने मे घंटों व्यतीत कर देते हैं। किन्तु ऐसा करने वाला स्वयं अपने आप को निन्दनीय बनाता है, अपनी आत्मा को मलीन करता है। अतएव सम्यग्दृष्टि पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह गुणी पुरुषो के गुणो की प्रशंसा करे।

पाँचवाँ दर्शनाचार है–स्थिरीकरण। इस का आशय है– जो सत्य से, धर्म से, समीचीन श्रद्धान या सदाचार से डिग रहा है, गिर रहा है, विचलित हो रहा है, उसे स्थिर करना, दृढ़ करना और पुनः सन्मार्ग पर आरूढ़ कर देना।

भद्र पुरुषो! सत्य से या धर्म से गिरने के कई कारण होते हैं। कोई लोभ से और कोई भय से धर्म से पतित हो जाते हैं। ठाणांग सूत्र के चौथे ठाणे मे चार प्रकार के पुरुष बतलाये गये हैं। कहा है:—

(१) एगे पियधम्मे नो दिढधम्मे
(२) एगे दिढधम्मे नो पियधम्मे
(३) एगे पियधम्मे वि दिढधम्मे वि
(४) एगे नो पियधम्मे नो दिढधम्मे।

अर्थात्– कोई-कोई प्रियधर्मा होते हैं किन्तु दृढ़धर्मा नहीं होते,

कोई दृढ़धर्मी होते हैं मगर प्रियधर्मा नहीं होते, कोई प्रियधर्मा और दृढ़धर्मी होते हैं तो कोई न प्रियधर्मा होते हैं और न दृढ़धर्मा होते हैं।

सज्जनो ! कोई-कोई पुरुष ऐसे होते हैं जिन्हे धर्म प्रिय लगता है। जैसे आपको धनप्राप्ति प्रिय प्रतीत होती है, वैसे ही उन्हें धर्म-कमाई प्रिय लगती है। धर्म का श्रवण करके, आचरण करके तथा धर्मात्माओ को देखकर उनकी आत्मा प्रसन्न होती है। इस प्रकार उन्हें धर्म के प्रति रुचि तो है, परन्तु उन की आत्मा मे इतनी शक्ति नहीं है कि वे परीक्षा के समय धर्म पर दृढ़ रह कर परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकें। वे धर्म को अच्छा समझने हैं, धर्म होता देख कर प्रसन्न भी होते हैं। धर्म का आचरण भी करते है, इस कारण वे प्रियधर्मा हैं, किन्तु दृढ़धर्मा नहीं हैं। वे धर्म का पालन तभी तक करते हैं, जब तक उन पर किसी प्रकार की विपत्ति-मुसीबत न आवे। परीक्षा का समय न आवे। जब संकट आ खड़ा होता है तब वे स्थिर नहीं रह सकते। परीक्षा के समय झुक जाते हैं। परीक्षा में उत्तीर्ण न होने के कारण वे खेदखिन्न होते हैं और ऐसा अनुभव करते हैं मानो उन्होंने अपनी पूजी गँवा दी हो और इसके लिए वे पश्चात्ताप भी करते हैं कि हाय ! मेरी चिरसंचित पूंजी खो गई; फिर भी उन की आन्तरिक दुर्बलता उन्हें दृढ़ नहीं रहने देती।

दूसरी श्रेणी के मनुष्य धर्म मे दृढ़ तो होते हैं, परन्तु उन्हें धर्म

प्रिय नहीं होता। धर्म के प्रति गहरा अनुराग न होने पर भी वे कई लौकिक कारणो से धर्म के प्रति दृढता ही प्रदर्शित करते हैं।

तीसरे प्रकार के पुरुष वे हैं जो अपने ध्येय मे—धर्म में दृढ भी होते हैं और धर्मप्रिय भी होते हैं। उनके हृदय में धर्म के प्रति इतनी उत्कठा होती है कि उन के रोम-रोम में धर्म प्रविष्ट हो जाता है और वे आपत्ति के समय भी मजबूत रहते हैं। आनन्द, कामदेव और अरणक आदि श्रावको को इसी कोटि मे गिना जा सकता है। उन्हे धर्म प्रिय था और आपत्ति आने पर भी वे धर्म पर अचल रहे-विचलित नहीं हुए।

अरणक श्रावक भगवान् महावीर के बड़े भक्त थे। धर्म उन की नस-नस मे रम गया था। वे केवल नाम के श्रावक नहीं थे, किन्तु पूर्णतया सम्यग्दृष्टि थे।

एक बार अरणक का जहाज समुद्र में माल ले जा रहा था। अरणक के मित्र और कर्मचारी भी साथ थे। उस समय इन्द्र ने अपनी सभा मे अरणक श्रावक की प्रशंसा की। कहा— आज अरणक जैसा धर्मी श्रावक नहीं, जिसकी नस-नस मे धर्म रमा हुआ है। उस के समान हरेक नहीं हो सकता। वह अत्यन्त श्रद्धावान् श्रावक है।

इन्द्र द्वारा की हुई यह प्रशंसा सम्यग्दृष्टि देवो ने स्वीकार की।

सोचा— जैसा इन्द्र महाराज कहते हैं, अरणक वैसे ही होंगे । मगर आप जानते हैं कि कोई-कोई चुगलखोर भी सब जगह निकल आते हैं। निन्दक भी होते हैं। ईर्षालु भी होते हैं। उस सभा में भी एक ईर्षालु, अभिमानी और नीचप्रकृति मिथ्यात्वी देव मौजूद था।

प्रत्येक ग्राम और नगर में ऐसी प्रकृति के कुछ लोग निकल आते हैं, क्योंकि 'बहुरत्ना वसुन्धरा।' अर्थात् इस पृथ्वी पर अनेक रत्न भरे पड़े हैं।

हाँ, तो उस ईर्षालुदेव ने सोचा— इन्द्र हम देवों के सामने एक साधारण मानव की प्रशंसा कर रहे हैं, जिसकी प्रशंसा हमारे सामने तुच्छ, नगण्य है। मैं उस अन्न के कीड़े और मल-मूत्र के पुतले की तारीफ़ हर्गिज़ बर्दाश्त नहीं कर सकता। मैं उसे परीक्षा की कसौटी पर कसूँगा और देखूँगा कि उसमें कितना धर्मप्रेम और धर्मदृढ़ता है।

इस प्रकार विचार कर वह अरणक को धर्म से विचलित करने के लिए दृढ़ संकल्प करके देवलोक से रवाना होकर समुद्र की तरफ आया। अरणक का जहाज़ सरटि के साथ समुद्रयात्रा कर रहा था।

सज्जनो ! जो पुरुष दुष्ट आशय वाले होते हैं, वे अपने बड़ों के, गुरुओं के वचनों को उत्थापन करने में भी संकोच नहीं करते। वह उनसे भी नहीं चूकता। कहा है—

एक नहीं चूकता चुगल चोट मारी का ।

कथा करने वाला भी कभी-कभी चूक जाता है, क्योंकि छद्मस्थ है। छद्मस्थ—अल्पज्ञ का स्खलित हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। वेद पुराण आदि बड़े-बड़े ग्रंथो के पाठी, आचारांग, भगवती जैसे गहन और विशाल शास्त्रों के ज्ञाता से भी स्खलना हो जाना स्वाभाविक है। आखिर तो चमड़े की जीभ है और उपयोग भी सदा समान नहीं रहता। अतएव स्खलना हो जाने पर भी समझदार श्रोता उन शास्त्रपाठियों की निन्दा या उपहास नहीं करता। वह समझता है कि किसी-किसी समय चूक हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है। जो अल्पज्ञ होते हैं, उनके कदम कभी नीचे की ओर भी पड जाते हैं। अतएव उनका उपहास नहीं करना चाहिए। अल्पज्ञ जीव अगर भूल न करे तो आश्चर्य की बात है; भूल जाने मे क्या आश्चर्य है !

बड़े-बड़े न्यायाधीश, हाईकोर्ट और सुप्रीम कोर्ट में बैठकर न्याय करने वाले भी भूल कर जाते हैं। तीर चलाने वाले चतुर तीरंदाज भी कभी-कभी निशाना चूक जाते हैं। किन्तु चुगलखोर—निन्दक ऐसे मां के पूत होते हैं कि वे अपनी उडान में इधर—उधर नहीं होते। वे चुगली और निन्दा करने में भूल नहीं करते, बल्कि सदैव सावधान रहते हैं।

सज्जनो ! ऐसे चुगलखोर का पडोस भी खोटा होता है । एक कवि ने भक्त से कहलाया है कि - हे भगवन् ! मैं पापी हूँ, अपराधी हूँ, मुझ से बहुत-सी भूलें और गलतियां हो गई हैं। अतएव मुझे अपनी भूलो का दंड मिलना ही चाहिए और दंड स्वीकार करने से ही मेरी आत्मा शुद्ध होगी। अतएव उन भूलों का आप जो चाहें वही दंड दे दीजिए, कड़े से कड़ा दंड मैं अंगीकार कर लूंगा; किन्तु- 'एक चुगलखोर को पड़ोस मत दीजिए।'

भक्त कहता है— भले ही मुझे आग में जला देना, मुझे यह कठोर दंड भी स्वीकार है । खूनी हाथी के पैरों के नीचे दब कर मसला जाना भी मंजूर है। काले सांप और विच्छू का काटा जाना भी स्वीकार है। पानी मे डूबना और बह जाना भी मैं प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लूंगा। विष का प्याला प्रेम से पी लूंगा। मगर भगवन् ! एक दया करना, एक दंड मत देना और वह यह कि किसी चुगल-निन्दक का पड़ोस मत देना। यह दंड मेरे लिए दुस्सह है। हमेशा का यह दंड बड़ा खोटा है। निन्दक के पड़ोस मे रहने से मुझ पर भी उस का असर आये बिना नहीं रहेगा । उस निन्दा और चुगली के फलस्वरूप इहलोक और परलोक मे मेरा तिरस्कार होगा !

निन्दक जब तक दूसरे की निन्दा नहीं कर लेता, तब तक उस

को खाई हुई रोटियाँ भी हज़म नहीं होतीं। उसके लिए तो निन्दा ही रामबाण और कृष्णबाण चूर्ण है। उसे खाये बिना उसके पेट का अफारा और दर्द मिटता ही नहीं।

अरे प्राणी! तू इस अमृतमय जीवन मे विष क्यो घोल रहा है? तेरे जीवन का एक-एक श्वास भी मूल्यवान् है। एक-एक पल का भी मोल नहीं हो सकता। किन्तु विवेकविकल जीव उसका मूल्य नहीं जानता और इस कारण सदुपयोग नहीं कर पाता। वह इस जीवन को तिरने के बदले डूबने के काम में ला रहा है।

मनुष्य की जैसी गति होने वाली होती है, वैसी ही मति हो जाती है। वह मति, गति के अनुरूप ही नोटिस लेकर आती है; तब जीव के विचार भी वैसे ही बन जाते हैं।

सज्जनो! यह सुनहरा जीवन अनन्त-अनन्त काल गुज़र जाने के बाद भी बड़ी मुश्किल से प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति मे जब मानव जीवन रूपी अनमोल रत्न मिल गया तो कम्बख़्त उसका उपयोग कागले उड़ाने में कर रहा है!

एक ज़मींदार को भाग्यवशात् रत्नों की पोटली कहीं पड़ी हुई मिल गई। उसे खोल कर उसने देखा तो उसमें गोल गोल चमकीले

पत्थर-कंकर से नजर आए। उस गंवार ने सोचा— अच्छा हुआ कि यह गोल पत्थर इकट्ठे किये हुए अनायास ही मुझे मिल गये हैं। खेत में से चिड़ियां उड़ाने के लिए खूब काम देंगे। यह सोच कर उसने वह पोटली खेत में बने मचान में रख दी। फिर उन अमूल्य रत्नों का उपयोग गोफन में रख कर चिड़ियों को उडाने में करने लगा। क्योंकि परिश्रम करके खेत तैयार किया जाय, उस में महँगे भाव का बीज बोया जाय और जब लहलहाती हुई हरी-भरी फसल पकाव पर आ जाय तो पशु-पक्षियों से उसकी रक्षा करना नितान्त आवश्यक हो जाता है। जो मूर्ख घोर परिश्रम करके, चोटी से एड़ी तक पसीना बहा कर भी ऐन मौके पर, जब परिश्रम का पूरा-पूरा सुखद फल मिलने वाला हो तब घर बैठ जाता है, वह उस फल से वंचित रह जाता है। उसकी फसल नष्ट हो जाती है और फिर उसे हाथ मल-मल कर पछताना पड़ता है। अतएव समझदार मनुष्य ऐसे स्वर्ण-अवसर का पूरा-पूरा लाभ उठाता है और अपने परिश्रम को सफल बनाता है। जब लुटेरे चने के खेत को भी नहीं छोड़ते तो फिर मोतियों की फ़सल को कौन छोड़ेगा! उस को तो और भी अधिक रक्षा करनी चाहिए।

सज्जनो! समकित रूपी मोतियों की फसल के लुटेरे बहुत हैं, अतएव उनसे पूर्णरूपेण सावधान रहने की आवश्यकता है। अन्यथा

पकी-पकाई खेती लुट जायगी, नष्ट हो जायगी। लोकोक्ति प्रसिद्ध है–'खेती तो धणिया सेती।' अर्थात खेती अपने हाथों ही सुरक्षित रह सकती है। दूसरों क भरोसे खेती से लाभ नहीं उठाया जा सकता।

व्यापार पराये हाथो मे हो अर्थात् मुनीम-गुमाश्तो के हाथ मे हो और सेठजो- कोरे वछिया के ताऊ, निरक्षर भट्टाचार्य हो, जिन्हे अपना नाम लिखना भी न आता हो, तो उनका व्यापार अधकार मे ही रहता है। सेठ को अपने मुनोमो-गुमाश्तों के भरोसे निश्चिन्त हो कर गफलत की नींद नहीं सो जाना चाहिए। बड़े सेठो की दुकान मे मुनीम सब काम करते हैं, मगर चतुर सेठ हिसाव–किताव और आंकड़ा तो स्वय ही देखता है और नफा-नुकसान की स्थिति से भली भाँति परिचित रहता है। यद्यपि हम सभी को एक ही लाठी से नहीं हांक सकते; कई मुनीम-गुमाश्ते वहुत ईमानदार भी होते हैं, परन्तु ऐसे मुनीम सब जगह सव को नहीं मिलते। कोई विरले ही होते है।

इसी प्रकार खेती भी पराये हाथों नहीं होतो। जो निश्चिन्त होकर दूसरों के भरोसे बैठा रहता है, उसे सरकारी महसूल भी गाँठ से चुकाना पड़ता है। अतएव खेती भी तभी लाभदायक होती है जब स्वयं अपनी निगरानी मे की जाती है।

और लड़के (वर) को स्वयं देखे बिना नाई- सेवक के भरोसे

छोड़ दोगे तो भी धोखा हो सकता है। संभव है, नाई को रिशवत मिल जाय और छोकरे के वदले डोकरे को देख आवे !

हाँ, तो वह ज़मींदार उन रत्नों से पक्षी उड़ाने लगा तो उस की खुशी का ठिकाना न रहा। वह सोचता था- मिहनत किये बिना ही यह गोल-गोल पत्थर खेती की रक्षा के लिए मुझे मिल गये, यह बहुत उत्तम हुआ। उसने धीरे-धीरे पोटली के सभी रत्न खेत मे उछाल दिये; सिर्फ एक ही रत्न अवशिष्ट रह गया। उसे उस रत्न की चमक बहुत अच्छी लगी और उसने सोचा-इसे फेंकूंगा नहीं, किन्तु मेरी गाय का बछड़ा होगा तो उसके गले मे बांध दूंगा। इसके बाँधने से वह कितना सुन्दर लगेगा! इस प्रकार विचार कर उसने हिफाज़त के साथ घर मे रख दिया।

थोड़े दिनों बाद खेत की कटाई हुई। अनाज निकाला गया और बोरियों मे भर दिया गया। कुछ अनाज शहर में बेचने के लिए गाड़ी में भर कर लाया। वह उस रत्न को भी साथ में लेता गया, यह सोच कर कि किसी दुकानदार से एक पट्टा खरीद कर उसमें इसे लगवा लूंगा। शहर मे आकर उसने अनाज बेचा और रुपये लेकर बाज़ार में घूमने लगा और पट्टा तलाश करने लगा। रत्न उसके हाथ में था। जब वह जौहरियों की दुकानो के पास से गुजरा तो एक

विचक्षण जौहरी– बच्चे की दृष्टि उस रत्न पर पड़ गई। उसने आवाज़ देकर उसे बुलाया और कहा- आओ चौधरी, बैठो। कैसे घूम रहे हो?

सज्जनो! गरज़ बावली होती है। कहा भी है—

गरज़ दीवानी गूजरी, नोत जिमावे खीर।
गरज़ निकली गुजरी नहीं, छाछ नहीं वे वीर॥

संसार बड़ा स्वार्थी है। जब भाई के पास पैसा होता है तो भाई बड़े आदर - सत्कार के साथ न्यौता देकर उसे खीर जिमाता है और जब वही निर्धन हो जाता है तो छाछ के लिए भी नहीं पूछता।

तो जौहरी ने ज़मींदार को प्रेम के साथ बिठला कर पूछा— क्या तुम इस पत्थर को बेचोगे?

ज़मींदार ने सोचा— क्या इस पत्थर की भी कीमत है? फिर उत्तर दिया– हाँ, लेना चाहो तो बेच देंगे।

उसे पता नहीं था कि यह पत्थर कितना मूल्यवान् है! इसे पास मे रक्खा जाय या बेच दिया जाय, यह भी उसे निश्चय नहीं था, क्योंकि वह अब तक जौहरियों की संगति में नहीं बैठा था!

सज्जनो! मित्र किसे बनाना चाहिए? संगति किसकी करनी चाहिए? इसका संक्षिप्त उत्तर यही है कि संगति उसी की करो जो

स्वयं तिरे और दूसरों को तारे ।

उस जौहरी ने उस पत्थर के दस हजार रुपये दिये । जमींदार ने पूछा— ये इतने बहुत रुपये किस बात के हैं? जौहरी ने कहा— यह इस गोल-गोल पत्थर का मोल है ।

जमींदार यह उत्तर सुनकर चकित रह गया । इस पत्थर की इतनी कीमत ! वह कल्पना भी नहीं कर सकता था ! जौहरी की बात सुनी तो उसकी छाती में धमाका-सा लग गया; मानों एटम-बम का विस्फोट हो गया । उसने अपनी मूर्खता पर घोर पश्चात्ताप करके छाती में एक मुक्का मारा ।

जौहरी उसकी यह अवस्था देखकर विचार करने लगा— इस रत्न का मूल्य अधिक है, परन्तु मैंने थोड़े रुपये दिये हैं, इसी कारण यह दुःखी हो रहा प्रतीत होता है । यह सोचकर जौहरी ने उसे दस हजार और दे दिये । मगर जमींदार का पश्चात्ताप कम नहीं हुआ । तब जौहरी ने उसे पचास हजार तक दे दिये । अन्त में कहा— देख भाई ! अब तू चाहे मुक्का मार चाहे सिर फोड़, इससे ज्यादा मैं हर्गिज नहीं दे सकता ।

यह सुन कर जमींदार ने कहा— मैं अधिक रुपये लेने के लिए मुक्का नहीं मार रहा हूँ । मुझे तो अपनी मूर्खता पर गहरा पश्चात्ताप और दुःख हो रहा है । मैंने जो मूर्खता की है, उसकी कोई सीमा नहीं

है। मेरे पास ऐसे-ऐसे रत्नों की एक पूरी थैली थी। मैं अज्ञान के कारण उन की कीमत न आंक सका। उन्हे साधारण पत्थर समझ कर फेंक दिया। सिर्फ यही एक बचा हुआ है। मगर अब पछताने से क्या ! जो भाग्य में नहीं था, वह कैसे रहता ! भाग्य में इतना ही था और इसी से मैं मालामाल हो गया हूं। फिर भी मनुष्य का दिल ही तो है कि उसकी तृष्णा का अन्त नहीं आता।

सज्जनो ! जमींदार ने तो पौद्गलिक रत्न ही गंवाये थे, पर दुनिया के लोग निन्दा-चुगली करके अपने अनमोल आत्मिक धन को गंवा रहे हैं।

तो मैं कह रहा था कि धर्म में लगाने वाले तो कम होते हैं किन्तु धर्म से गिराने वाले बहुत हैं। अतएव स्थिरीकरण नामक दर्शनाचार यह सिखलाता है कि जो धर्म से गिर रहे हैं, उन्हें धर्म में स्थिर करो और उन्हे सब प्रकार की सहायता पहुंचाओ।

हां, तो तीसरे नम्बर के पुरुष वे हैं जो दृढ़धर्मी भी होते हैं और प्रियधर्मी भी होते हैं। अरणक इसी कोटि का श्रावक था। उस ईर्षालु देवता ने नकली रूप बनाया और जहाज में आया। ग्रन्थकारों ने कहा है— उस देवता ने जहाज में आकर कहा— हे अरणक ! मैं तुझे धर्म से विमुख करने आया हूं। तुझे धर्म का परित्याग करना

पड़ेगा। मैं यह भी भलीभांति समझता हूँ कि तेरे जैसे धर्मप्रिय पुरुष को धर्म का परित्याग करना उचित नहीं है, फिर भी मैं धर्म का परित्याग कराने आया हूँ और परित्याग कराके ही रहूँगा। अगर तूने धर्म त्याग दिया तो ठीक है, अन्यथा तुझे प्राण त्यागने पड़ेंगे। धर्म त्याग देने पर मैं तुझ पर प्रसन्न होऊँगा और अटूट धन-वैभव देकर निहाल कर दूँगा। इसके विपरीत, अगर तू धर्म नहीं छोड़ेगा तो तेरे जहाज को दो उंगलियों पर उठा कर ऊपर से फेंक दूँगा, जिस से तू भी मर जायगा और जहाज भी टुकड़े-टुकड़े हो जायगा। आर्त्तध्यान पूर्वक मरने के कारण तुझे नीच गति मे जाना पड़ेगा। सोच ले अपनी भलाई !

अरणक श्रावक ने मन मे सोचा– आज मेरे परीक्षण का दिन है। जैसे विद्यार्थी को अपनी परीक्षा के लिए विशेष तैयारी करनी पड़ती है, समय से पहले परीक्षालय में पहुँच जाना पड़ता है, किन्तु जिस ने पहले ही अच्छी तैयारी कर रक्खी है, उसे घबराहट नहीं होती; उसी प्रकार अरणक को भी किसी प्रकार की घबराहट नहीं हुई। वह परीक्षा देने के लिए पहले से ही तैयार था। उसने सोचा– यह देवता मुझसे धर्म त्यागने के लिए कहता है। धर्म त्याग कर मुझे जो धन-वैभव मिलेगा, वह धर्म के अभाव मे कितने दिन ठहर सकेगा? धर्म के बिना संसार की कोई भी वस्तु सुखदायी नहीं हो सकती।

अतएव किसी भी मूल्य पर मै धर्म का परित्याग नहीं करूँगा। प्राण त्याग देने मे कोई हानि नहीं, परन्तु धर्म त्याग देने का अर्थ जन्म-जन्मान्तर को नष्ट कर देना है।

इस प्रकार विचार कर अरणक श्रावक ने सागारी सथारा किया और मौन धारण करके, निश्चल भाव से आसन पर बैठ गया। उसने परमात्मा के साथ अपना मन जोड़ दिया।

देवता ने कहा— तू इतना ही कह दे कि— 'मैंने धर्म छोड़ दिया' तो मैं तुझे निहाल कर दूगा।

मगर सेठ जी मौन हैं, कुछ उत्तर ही नहीं देते हैं। वह तो दृढता के साथ धर्म की शरण मे आ गये हैं। उन्हे विश्वास है कि मैं धर्म की रक्षा करूँगा तो धर्म मेरी रक्षा करेगा।

अरणक के साथी आकुल - व्याकुल हो रहे थे। उन्हे अपने प्राणों की चिन्ता थी। जब उन्होने देखा कि अरणक धर्म छोड़ने की बात कहने को भी तैयार नहीं है और प्राणसंकट उपस्थित हैं तो उन्होंने कहा— सेठ जी, क्या हम सब को समुद्र मे डुबोने के लिए ही लाये थे? भीतर से मत कहो, ऊपर के मन से ही कह दो कि मैने धर्म त्याग दिया। तुम तो बड़े धर्मात्मा बन रहे हो और यहाँ प्राण मुसीबत में पड़ रहे हैं।

जब अरणक किसी भी प्रकार सिद्धांत से विचलित न हुआ तो उसके साथी देवता ने कहने लगे— अरणक तो हठ पकड़ कर बैठा है। वह नहीं कहता। क्या हम कह दें? हमारे कहने से हमारे प्राण बच जाएँगे?

देवता ने रोष में भर कर कहा—तुम्हारे कहने से क्या होता है! मैं तो अरणक से ही कहलाना चाहता हूँ कि— 'मैंने धर्म छोड़ दिया।'

अरणक टस से मस न हुआ। वह अपने आदर्श पर अटल रहा। तब देवता ने जहाज ऊपर उठाया और फिर नीचे की ओर फेंक दिया।

तत्पश्चात् देवता ने अपने ज्ञान मे देखा तो उसे पता चला कि इतनी कठोर परीक्षा करने पर भी अरणक का एक रोम भी विचलित नहीं हुआ है। वह धर्म पर ज्यों का त्यो कायम है। तब अन्त में देवता ने हार मान कर अपना असली रूप प्रकट किया और अरणक के सामने दोनो हाथ जोड़ कर नमस्कार करके कहा— 'मेरा अपराध क्षमा कीजिए।'

अरणक ने उपसर्ग शांत हुआ जान कर आंखें खोलीं तो देखा— सामने देवता हाथ जोड़ कर खड़ा है और अपराध के लिए क्षमायाचना

कर रहा है ! अरणक ने क्षमा प्रदान कर उसे निश्चिन्त किया । देवता ने कुंडलो का एक जोड़ा अरणक को भेंट किया । वह अपने स्थान पर चला गया ।

इस प्रकार अरणक जैसे पुरुष दृढधर्मी और प्रियधर्मी होते हैं।

चौथे प्रकार के पुरुष वह हैं जो न दृढधर्मी होते हैं और न प्रियधर्मी ही होते हैं । वे इस दुनिया मे जैसे आते हैं वैसे ही चले जाते हैं । वे अपने जीवन को न बना सकते हैं और न ऊपर उठा सकते हैं ।

ज्ञानी पुरुष कहते हैं— गिरे हुए को उठाओ । लेकिन उन्हे उठाए कौन? बचाए कौन? जो स्वय ही गिर रहा हो और स्वय ही डूब रहा हो, वह दूसरे को क्या उठा सकता है ! कैसे बचा सकता है? वह दूसरे को नहीं तार सकता । अतएव जो गुरु हो, पथ-प्रदर्शक, नेता या अग्रणी कुछ भी हो, जिस किसी गच्छ या सम्प्रदाय के अधिपति हो, उन्हें अपने लक्ष्य, ध्येय एवं सिद्धांत मे अटल विश्वास होना चाहिए ।

आप का कर्त्तव्य है कि बच्चों वाला खेल न करते हुए जैसे शरीराकृति से आप मनुष्य हैं वैसे ही अपने कर्त्तव्यो से भी मनुष्य बनो । मनुष्य बन गये तो आपका जीवन सफल बन जायगा । मनुष्य

बनना भी साधारण बात नहीं है। मनुष्य वे हैं जो अंगीकार की हुई उचित प्रतिज्ञा का पालन करते हैं। जो अपनी ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा से गिर जाते हैं, उनके लिए मैं क्या कहूँ!

तो मनुष्य मे मनुष्यता होनी ही चाहिए और अपने उचित सिद्धांत का उसे पालन करना ही चाहिए। वीर पुरुष परिस्थितियों और अवस्थाओं को नहीं देखता है। जिस को परिस्थितियाँ अपनी तरफ मोड़ लेती हैं, वह कहता है– क्या करूँ साहब! मेरे घर वाले नहीं मानते हैं, मेरे पिताजी दूसरा ख्याल करेंगे, इस कारण मैं लाचार हूँ। इस प्रकार की निर्बलता के कारण जो अपने पथ से विचलित हो जाता है, वे अपने जीवन मे कोई महान् कार्य नहीं कर सकते। जो पिता अपनी सन्तान के किसी पवित्र कार्य मे बाधक होता है, जो नियम पालन करने मे भी बाधा डालता है, मैं कहूँगा कि ऐसे माता-पिता को शीघ्र ही किसी वृद्धाश्रम में जाकर भर्त्ती करा देना चाहिए।

ऐ मनुष्य! तेरे साथ तेरे माता-पिता को नहीं जाना है। सत्य ही तेरा साथ देगा। सत्य को वस्तुतः उसी ने समझा है जो विषम से विषम परिस्थितियो में भी सत्य का परित्याग नहीं करता। जो मित्रो के या किसी और के लिहाज मे आकर सत्य से विमुख हो जाता है, मैं समझता हूँ कि उस के मानस में अभी तक सत्य ने प्रवेश नहीं

किया। जो सत्य पर आरूढ़ होता है, वह परिस्थितियो की ओर नहीं मुड़ता है। परिस्थितियां उसे विचलित नहीं कर सकतीं। वह परिस्थितियों को अपनी ओर मोड़ लेता है। अतएव जो सत्य विधान है उसका पालन करना आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है।

सज्जनो ! मैं आप लोगो को कभी-कभी कटुक दवा भी दे दिया करता हूँ, ऑपरेशन भी कर डालता हूँ। किन्तु डाक्टर की आन्तरिक भावना यही रहती है कि रोगी शीघ्र से शीघ्र स्वास्थ्यलाभ कर ले। उसकी नियत रोगी को हानि पहुँचाने की नहीं होती। इसी प्रकार मैं भी आप लोगो के जीवन को मँजा हुआ देखना चाहता हूँ। आपका हितैषी होने के नाते ही मैं आप से कहता हूँ। जो अपना नहीं होता उसे कोई चिन्ता भी नहीं होती। कोई सुधरे या बिगड़े, पराये को क्या चिन्ता !

अन्त मे मेरा यही कहना है कि आप लोग भी अरणक की भांति दृढ़धर्मी और प्रियधर्मी बनें। अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहे। अरणक धर्म पर दृढ़ रहे तो उन का जहाज डूबा नहीं, तिर गया। इसी प्रकार आप भी धर्म मे दृढ़ता रक्खेंगे तो तिर जाएँगे।

ब्यावर
२६-६-५६

॥ ६ ॥

स्थिरीकरण

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः, सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः, पूज्या उपाध्यायकाः ।
श्रीसिद्धान्त–सुपाठका मुनिवरा, रत्न–त्रयाराधकाः,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं, कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

उपस्थित महानुभावो !

कल बतलाया जा चुका है कि सम्यक्त्व को वृद्धिगत करने के लिए, अधिक से अधिक फलीभूत करने के लिए, अधिक से अधिक सम्यक्त्व का प्रचार करने के लिए दर्शनाचार के आठ भेद बतलाये गये हैं। दर्शनाचार के छठे भेद स्थिरीकरण के संबंध मे प्रकाश डालते हुए यह भी बतलाया जा चुका है कि जो प्राणी धर्म से डिग रहे हैं, सम्यग्दर्शन या चारित्र से विचलित हो रहे हैं, उन्हें पुनः स्थिर

करना उचित है; क्योंकि जिस मनुष्य का पतन हो रहा हो, उसे सँभाल लेना, बचा लेना, उठा लेना और छाती से लगा लेना शक्तिशाली और सुदृढ़सम्यक्त्वी का परम कर्त्तव्य है। जिसमें बल होता है वही गिरते को सँभाल सकता है; सामर्थ्यहीन पुरुष ऐसा नहीं कर सकता।

संसार में तनबल, धनबल, जनबल और सत्ताबल वाले तो बहुत मिल जाएँगे, पर धर्मश्रद्धाबल या आध्यात्मिक बल वाले विरले ही मिलेंगे। वास्तविक बल वही है जिससे स्व-पर का कल्याण हो। यों तो पाड़े में अर्थात् झोटे में मनुष्य की अपेक्षा भी अधिक बल होता है, हाथी और सिंह भी मनुष्य से अधिक बलवान् होते हैं, पर उन में बल के साथ कल नहीं अर्थात् विचारशक्ति नहीं होती। अतएव उन का बल संरक्षक नहीं, संहारक होता है। स्मरण रखना चाहिए कि विचार बल से रहित शरीर बल कभी - कभी हानिकारक ही सिद्ध होता है।

देखा जाता है कि कभी कभी दुर्बल शरीर वाले भी अपने विचार बल के द्वारा बड़े-बड़े वीरता के काम कर गुजरते हैं। गांधी जी शरीर से दुर्बल हो कर भी आत्मबल के सहारे महान् कार्य करने में समर्थ हो सके।

पशुओ का शरीर बल परस्पर लड़ने और कट मरने में ही समाप्त हो जाता है, क्योकि उनमे विचारशक्ति का अभाव है । इसी प्रकार जिन पुरुषो मे शरीरबल भले ही प्रबल हो, वे बड़े नामी पहल-वान ही क्यो न हो, अगर उनमे विचारशक्ति नहीं है तो वे भी बिना सींग और पूंछ के पशु ही हैं।

सज्जनो ! जीवन का मूल्य मनुष्य के ज्ञान के साथ ही आंका जा सकता है । अतएव जिसमें विचार-विवेक और धर्मपरायणता नहीं और परोपकार की तड़फ नहीं, उसका शरीर बल भी किस काम का है? पत्थर मे कितना बल है, किन्तु यदि वह किसी के ऊपर गिर पड़े या उससे कोई टकरा जाय तो सिर ही फोड़ देता है । ऐसे पत्थर के बल की क्या सार्थकता है ? अतएव जीवन मे दया - परोपकार की भावना होनी चाहिए।

तो शास्त्रकारो ने बतलाया है कि समकितधारी पुरुष के लिए यही उचित है कि वह धर्म मे दृढ़ रहे और किसी भी प्रकार के भय या लालच के कारण अपने धर्म से विचलित न हो, बल्कि मेरु पर्वत की तरह अडोल और अकंप रहे। समय पर उस की परीक्षा होती है और यदि उस परीक्षा में वह अनुत्तीर्ण होता है तो अपने धर्म से गिर जाता है। अतएव वह स्वयं धर्म में दृढ़ रहे और जो धर्म से विमुख

हो रहे हो, उन्हे सहयोग देकर धर्म में स्थिर करे।

भद्र पुरुषो ! गिरना भी कई कारणो से होता है। कभी-कभी मनुष्य को ऐसी परिस्थिति हो जाती है कि उसे अपनी इज्जत को सँभालना भी मुश्किल हो जाता है। इज्जत के लिए कई लोग जहर खाकर मर जाते हैं, रेलगाड़ी के नीचे कुचल कर प्राण दे देते हैं, कूप या तालाब आदि मे गिर कर प्राण गँवा देते हैं या फांसी खाकर या तेल छिड़क कर जीवन का अन्त कर लेते हैं। इस प्रकार आत्मघात करना ठीक नहीं, वह आत्मा के पतन का कारण है।

हां, जैनशास्त्रो ने भी बतलाया है कि प्रत्येक व्यक्ति में लज्जा होनी ही चाहिए। लज्जा दो प्रकार की है– लोकलज्जा और लोकोत्तरलज्जा। स्त्रियो को अपने गुरुजनो से अर्थात् श्वसुर जेठ आदि से घूंघट निकालना लोकलज्जा है। किन्तु मैने इधर देखा है कि वहू सासू के सामने भी घूंघट निकालती है। यह कहां तक ठीक है, आप स्वयं सोचें। तो बड़ो से लज्जा करना लौकिक लज्जा है, परन्तु उस की भी सीमा होनी चाहिए। ऐसा नहीं कि बेचारी किसी बहू को घूंघट के कारण रास्ता चलना ही कठिन हो जाय। अतएव नीतिकार कहते हैं— 'अति सर्वत्र वर्जयेत्।' सीमा के भीतर सब कुछ ठीक लगता है और सीमा का उल्लंघन हानि का कारण बन जाता

है। भोजन और जल का सेवन आवश्यक है, मगर उसकी भी एक मर्यादा होनी चाहिए। मर्यादा के उल्लंघन से वह भी शरीर को बल या लाभ पहुँचाने के बदले हानि उत्पन्न करने वाले सिद्ध होते हैं। अधिक भोजन कर लेने पर जब हैजा हो जाता है या पेट मे दर्द उठता है तो डाक्टर की शरण लेनी पड़ती है। अग्नि में थोड़ा-थोड़ा ईंधन डालोगे तो वह प्रज्वलित हो उठेगी। बहुत-सा ईंधन डालने से वह बुझ जायगी। इसी प्रकार जठराग्नि को यदि ठीक-ठीक मात्रा मे खुराक मिलेगी तो वह भोजन को पचाएगी, रस बनाएगी और शरीर के निर्माण में सहायक बन सकेगी और भोजन का एक-एक ग्रास रस, रक्त, मांस, मज्जा, वीर्य आदि बनाता जायगा।

गेहूँ के एक दाने की कितनी परिणतियाँ होती हैं? जानकारी करने के लिए मैंने मिल मे जाकर स्वयं देखा है। वहाँ कोई प्रदर्शिनी नहीं थी। जहाँ खेल-तमाशा हो, इन्द्रियो की उत्तेजना मिलती हो, वहाँ साधु को नहीं जाना चाहिए। मगर ज्ञानप्राप्ति के लिए किसी उचित स्थान पर जाने मे हानि नहीं। मुझे विद्युत्-गृह मे भी जाना पड़ा है और वहाँ जाकर बिजली के विषय मे वहां के कार्यकर्त्ता से पूछताछ कर कुछ जानकारी की है।

ज्ञान दो प्रकार का होता है— थ्योरैटिकल और प्रैक्टिकल।

थ्योरी के रूप में तो शास्त्रो मे वर्णन आया ही है, मगर चीज़ो को देखे बिना प्रैक्टिकल ज्ञान नहीं होता। साधु का जीवन पाषाण की भाँति एक जगह पड़े रहने को नहीं है। हमारे जीवन मे उल्लास और कार्य करने की क्रान्ति होनी चाहिए। जीवन को उन्नत बनाने की भावना होनी चाहिए। जहाँ जो भी ज्ञान विकास की सामग्री मिलती हो, उसका उपयोग करके अपने ज्ञान की वृद्धि करनी चाहिए। जो बात ग्रन्थो या पुस्तको मे पढी जाती है, उसे आँखो से देख लिया जाय तो ज्ञान में विशदता आ जाती है। शास्त्रो में जो कुछ भी उल्लेख है वह सत्य है और उसे सत्य मानना ही चाहिए, मगर सभी लोगो की धारणा ऐसी नहीं होती। अतएव जब कोई प्रश्न करता है कि अमुक बात ऐसी क्यों है, तो उसके चित्त का समाधान करने के लिए अनुभवात्मक ज्ञान की आवश्यकता होती है।

आज का जमाना तर्कप्रधान है। खास तौर से कॉलेज का विद्यार्थी प्रैक्टिकल ज्ञान में विश्वास करता है। अतएव शास्त्र के रहस्यमय तत्त्वों को हरेक के दिमाग़ मे उतारने के लिए प्रत्यक्ष ज्ञान की नितान्त अवश्यकता है। भौतिकवादियो को शास्त्रविषयक प्रश्नो का जब तक युक्तिसंगत उत्तर नहीं मिलता, तब तक उन्हे सन्तोष नहीं होता और परिणामस्वरूप वे अश्रद्धालु हो जाते हैं।

एक विद्यार्थी मेरे पास आया और पूछने लगा— महाराज! सूर्य घूमता है या पृथ्वी? कार्य मे व्यस्त होने के कारण मैंने संक्षेप में कह दिया— सूर्य घूमता है। किन्तु इतने उत्तर से उसे कब सन्तोष होने वाला था! उसके कानों में तो यह ध्वनि पड़ चुकी थी कि पृथ्वी घूमती है। अतएव उसने फिर पूछा— सूर्य कैसे घूमता है? मैंने कहा— तुम रात को अवसर देखना, तब मैं तर्क और हेतुओ से सिद्ध कर के बतलाऊंगा। वह उस रात को तो नहीं आया पर तीसरे-चौथे दिन आया। एक अध्यापक भी बैठे थे। तब मैंने पृथ्वी के घूमने का निराकरण करके सूर्य के घूमने के प्रमाण दिये। उन से उन्हें सन्तोष हुआ।

तो अभिप्राय यह है कि शास्त्रीय विषयो के समर्थन के लिए आज प्रमाणों की आवश्यकता है। लोग उन्हे प्रैक्टिकल रूप में देखना चाहते हैं। अतएव साधु को विज्ञान की दृष्टि से, गवेषणा की दृष्टि से, ऐसे प्रत्येक क्षेत्र में जाना चाहिए जहाँ उसका व्यवहार न बिगड़ता हो। हाँ, कहीं नाटक, नाच या सिनेमा हो तो उसमे जाना उचित नहीं है वहाँ जाने के लिए यह बहाना नहीं किया जा सकता कि नाटक भी बहत्तर कलाओ मे एक कला है। साक्षात् तीर्थंकर के समवसरण मे भी देवी-देवता नाटक करते थे।

इसी प्रकार शास्त्रो में वनस्पति के संबंध में बहुत कुछ वर्णन

आता है। यदि कोई साधु किसी प्रयोगशाला मे जा कर मर्यादापूर्वक वनस्पतिविषयक जानकारी प्राप्त करता है तो भी क्या हानि है!

भीनासर-सम्मेलन में सचित्त-अचित्त का प्रश्न आया था। कोई किसी चीज को सचित्त मानता है तो दूसरा उसी को अचित्त समझता है। किन्तु इस विषय मे हमारा ज्ञान परिमित है। अतएव जहाँ तक हमारी पहुँच हो, हमें तथ्य को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। कोई छोटी इलायची को सचित्त और कोई अचित्त मानते है। किसी के मत से सफेद मिर्च सचित्त है तो किसी के विचार से अचित्त है। ऐसी चीजों के विषय मे झंझटें खड़ी हो जाती हैं। साधु इतनी छान-बीन नहीं कर सकता। गृहस्थ ही पूरी जाँचपड़ताल कर सकते हैं। तात्पर्य यह है कि उपदेष्टा को जहाँ-जहाँ से जो-जो अनुभव मिल सकता हो, उसे प्राप्त करना चाहिए जिस से वह श्रोताओ को हर पहलू से समझा सके और धर्म से विचलित होने से बचा सके।

श्रीमत्प्रज्ञापना सूत्र मे एक भाषापद है। वहाँ भाषा पर बहुत कुछ प्रकाश डाला गया है। भाषा क्या है? भाषा की स्थिति कहाँ है? भाषा की उत्पत्ति कैसे होती है? भाषा के पुद्गल जब अंदर रहते हैं तो किस स्थिति मे और बाहर आते हैं तो किस स्थिति मे होते हैं? उनका आकार-प्रकार कैसा होता है? वे किस साचे में ढले होते हैं?

यह सब बातें आज तक शास्त्रो में ही लिखी हुई थीं, परन्तु वैज्ञानिकों ने आज उन्हे प्रैक्टिकल रूप से सिद्ध कर दिखलाई हैं। जो लोग उन्हें कपोलकल्पित मानने थे उनकी आँखें खोल दी हैं आज एक जगह बोले हुए शब्दों को यंत्र सारी दुनिया में सुना देता है। आपने तो सोचा था कि वह भाषा हमारे कानों में आकर समाप्त हो गई, किन्तु वैज्ञानिकों ने समर्थन कर दिया है कि ये शब्द सारे ब्रह्माण्ड मे फैलते हैं।

सज्जनो ! अन्दर भाषा के पुद्गल चौस्पर्शी होते हैं और उनकी पावर बहुत कम होती है, यहाँ तक कि कर्णेन्द्रिय उन्हें ग्रहण नहीं कर सकती। परन्तु जब वह भाषा बाहर निकलती है तो आठस्पर्शी बन जाती है और समस्त लोक में चक्कर काटती है और तभी कर्णगोचर होती है। चारस्पर्शी पुद्गलो को कोई भी इन्द्रिय ग्रहण नहीं कर सकती, क्योंकि इन्द्रियाँ स्वयं आठस्पर्शी हैं।

तो आशय यह है कि आज के वैज्ञानिकों ने वायरलैस टैलोफोन और रेडियो का आविष्कार करके हमारी शास्त्रीय मान्यताओं की पुष्टि कर दी है। आज यूरोप और अमेरिका में होने वाले भाषणों को हम घर बैठे सुन सकते हैं। यही नहीं, टेलीवीजन के आविष्कार से तो वक्ताओं के हावभाव भी प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं। आज कई जगह

कालेजो में केवल रेडियोसैट रक्खा हुआ होता है और विद्यार्थी बिना प्रोफेसर के ही उससे लैक्चर सुन लेते हैं। एक प्रोफेसर किसी एक जगह से भाषण करता है और सभी जगहों के विद्यार्थी उसे सुन लेते हैं और उसके हावभावो को भी देखते रहते हैं। जब आज के वैज्ञानिको ने इतना देख लिया तो केवलज्ञानियो का तो कहना ही क्या?

तो इन सब बातो से परिचित रहने के लिए साधु को गवेषक होना चाहिए, घुमक्कड़ होना चाहिए । तभी वह नई-नई बातो की खोज करके इस युग की शंकाओ का सप्रमाण सरल समाधान कर सकता है।

देश-देशान्तर मे भ्रमण करने से साधु को योग्यता की प्राप्ति होती है । नीतिकारो ने भी योग्यतावृद्धि के लिए देशाटन को छः कारणों मे से एक कारण बतलाया है। परन्तु देशाटन का कोई निश्चित लक्ष्य होना चाहिए, तभी योग्यता की वृद्धि होती है। देशाटन मे विभिन्न धर्म और विचार वाले व्यक्तियो से पाला पड़ता है। अगर साधु कुशल न हुआ तो गांठ कतरा कर लौटना पड़ता है । देशाटन से विभिन्न देशो की भाषा, सभ्यता, रीतिनीति, रहनसहन, खानपान, वेषभूषा, चालढाल और विचारधारा आदि का पता चलता है। साधु को प्रत्येक क्षेत्र का यथासंभव ज्ञान होना चाहिए। यह ठीक है कि

कई चीजें हेय होती हैं, कई उपादेय होती हैं और कई केवल ज्ञेय होती हैं। जिसे खोटे का ज्ञान नहीं, वह खरे की परीक्षा कैसे कर सकता है? जिसे पाप का ज्ञान है, वही पुण्य और धर्म को समझ सकता है। जिसे जीव का बोध होगा वही अजीव को जान सकेगा। जो खोटे रुपये को पहचानता है, वही खरे रुपये को पहचान सकता है। खोटा-खरा परस्पर सापेक्ष होने से एक दूसरे की पहचान कराने वाले हैं। इस प्रकार लौकिक ज्ञान का भी अपना महत्त्व है।

शास्त्र मे आसमान से कोई चीज नहीं आई है, वरन् लौकिक ज्ञान को ही लोकोत्तर रूप प्रदान किया गया है। लोक में घटित घटनाओं का और विद्यमान पदार्थों का ही शास्त्र मे प्रतिपादन है।

मेरे हाथ में जो पुस्तक है, इसमे परिमित बातें ही आ सकती हैं, किन्तु यह विश्व एक महान् ग्रंथ है। इस का भी सावधानी के साथ अध्ययन करने की आवश्यकता है। अतएव ज्ञान-विकास के विभिन्न साधनों का उपयोग कर के अपनी योग्यता बढ़ाने के लिए यत्नशील रहना चाहिए।

इसी दृष्टिकोण से मैं आटे की मिल देखने गया। वहाँ देखा कि गेहूँ के एक ही दाने का अलग-अलग नंबर की मशीनों में अलग-अलग रूप बनता जाता है। गेहूँ का वही दाना आटा बन सकता है, दलिया

बन सकता है और मैदा भी बन सकता है। बड़ी मिल की उस मशीन में आटा गर्म नहीं होता और न उस का सत्त्व ही मारा जाता है। उस के फौलाद के बेलन होते हैं। साधारण लोहे के बेलन घिस-घिस कर आटे मे मिलते और हानिकर होते, अतएव वैज्ञानिको ने फौलाद के बेलन बनाये। मगर फौलाद तो खाने मे भी काम आता है और वह इतनी ही मिकदार मे घिसता है जितना आटे मे होना चाहिए।

तो वहाँ जाकर मैंने मालूम किया कि एक ही दाना जैसे सूजी, आटा और मैदा के रूप में परिणत होता है, उसी प्रकार एक ही कार्मण वर्गणा के पुद्गल आत्मा के संयोग से ज्ञानावरण आदि विभिन्न प्रकृतियो के रूप में परिणत होते हैं।

तो मनुष्य ने लौकिक ज्ञान द्वारा अपने और दूसरो के जीवन के लिए अद्भुत चीजें आविष्कृत की हैं। जब इन्सान लौकिक ज्ञान मे आगे से आगे बढ़ सकता है तो कोई कारण नहीं कि वह लोकोत्तर ज्ञान मे आगे से आगे न बढ़ सके। मगर शर्त यही है कि उस में लोकोत्तर ज्ञान के प्रति अभिरुचि होनी चाहिए। उसे जँच जाना चाहिए कि जैसे मेरी दोनों भुजाओ से जीवन का कार्य चलता है और एक से यथावत् काम नहीं चल सकता, उसी प्रकार जीवन के वास्तविक श्रेय के लिए लौकिक ज्ञान और लोकोत्तर ज्ञान— दोनो की आवश्यकता है।

उसे सोचना चाहिए कि मैं एक जीवनधारी-शरीरधारी हूँ, अतएव मुझे जीवनोपयोगी पदार्थों की आवश्यकता है जिससे कि मैं अपना और अपने कुटुम्ब का जीवनचक्र चला सकूं परन्तु मुझे यहीं पर खड़ा नहीं रह जाना है, असली प्रकाश की ओर बढ़ना है, केवलज्ञान और केवल दर्शन के प्रकाश को भी प्राप्त करना है।

केवलज्ञान-ब्रह्मज्ञान ही ज्ञान की चरम सीमा है और केवलदर्शन ही देखने की चरम सीमा है। जिन्होंने मानव - जीवन में रहते हुए अपने मन और अपनी इन्द्रियो को संयम में ला कर केवलज्ञान-दर्शन को प्राप्त कर लिया है, वे जीवन-मुक्त हो जाते हैं और इसी जीवन मे जीवन का अलौकिक आनन्द लूटते हैं। आत्मा को संतप्त करने वाले काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, राग, द्वेष आदि विकारो को समूल नष्ट कर देने के कारण उनकी आत्मा आनन्दस्वरूप हो गई। काम क्रोध आदि आत्मविरोधी तत्त्व ही दुःखरूप हैं, आत्मा के असली शत्रु हैं। राग - द्वेष ही आत्मा मे, जाति मे, समाज मे, संघ में, राष्ट्र मे और संसार मे अशांति उत्पन्न करते हैं, क्लेश और झगड़े पैदा करते हैं। यह विकार जिस व्यक्ति या समाज मे जितने-जितने अशो मे बढ़ते जाते हैं, उस का उतना ही अधिक अधःपतन होता चला जाता है। इस के विपरीत यह विरोधी विकार ज्यों-ज्यों कम होते जाते हैं, व्यक्ति समाज और राष्ट्र का उत्थान और अभ्युदय होता चला जाता है।

बहुत वार देखा गया है कि आत्मोन्नति की कई सीढियाँ पार करने के पश्चात् भी यह विकार अवसर पाकर हमला कर देते हैं और व्यक्ति को नीचे गिराने का प्रयत्न करते हैं। उस समय धर्मप्रेमी और सम्यग्दृष्टि पुरुष का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह गिरने वाले को स्थिर करने का यथाशक्ति प्रयत्न करे। शास्त्रीय भाषा मे यही स्थिरीकरण आचार है। बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि जो समाज, जाति, सघ या व्यक्ति धर्म से च्युत हो रहा है, उसे अपनी सारी शक्ति लगाकर ऊँचा उठावे। अगर कोई ऊँचा न उठा सके तो कम से कम नीचे तो न गिरावे। मगर खेद है कि आज गिराने वाले बहुत और उठाने वाले कम हैं। गिराने वाले कहते हैं— निकाल दो पर्चे, मचा दो धूम, जिस से धुंआधार मच जाय ! मगर ऐसे लोगो को मालूम होना चाहिए कि यह क्रांति नहीं भ्रांति है, एक भयकर रोग है। ऐसे लोग आज क्राति की आड़ में समाज मे भ्राति फैलाते हैं, दुनिया को धोखा देते हैं !

आप जानते हैं कि दुनिया मे सभी होशियार नहीं होते कि लोगों की चालाकी को समझ सकें। भ्रांति फैलाने वाले ऐसे लोगो से समाज को सावधान और जागरूक रहना चाहिए। उनके झासे मे नहीं आना चाहिए। अगर आपने अपने जीवन को जागरूक नहीं रक्खा तो उनके शिकार बन जाओगे।

यदि तुमने सम्यक्त्व का स्वरूप समझा है और यदि तुम अपने जीवन को विकसित करना चाहते हो तो किसी को गिरा कर नहीं चमक सकते। यदि महावीर, कृष्ण, बुद्ध, राम और महात्मा गांधी वगैरह महापुरुष दुनिया मे चमके तो किस बल पर चमके ! किस शक्ति ने उन्हे ऊँचा उठाया ! इन महापुरुषों ने गिरते हुओं को ऊँचा उठाया तो वे खड़े गये और उन सब ने मिलकर उन्हे सिर पर उठा लिया। इस प्रकार जो गिरे हुए को ऊँचा उठाता है वह स्वभावतः ऊँचा उठ जाता है और जो उठे हुए को गिराने को चेष्टा करता है वह स्वय ही नीचे गिर जाता है।

अरे पागल ! जिस वृक्ष के फल खा रहा है, जिस वृक्ष के फूलों की सुगंध से आनन्दलाभ कर रहा है, और जिसकी घनी शीतल छाया मे बैठकर दाह मिटा रहा है, उसी को काटने की कोशिश करता है ! इस से अधिक गद्दारी और विश्वासघात क्या हो सकता है ! वास्तव मे कृतघ्न लोग किये हुए उपकार को भी भूल जाते हैं। शास्त्रकारो ने उन्हे कृतघ्न नाम से पुकारा है।

एक बार बहुत वर्षा हुई तो जल-थल एक हो गया। बेचारे पशु-पक्षी बड़ी संख्या मे मर गये। जिधर देखो उधर पानी ही पानी दिखाई देने लगा। उस समय एक चूहा, जिस पर बहुत पानी पड़ा

था और जो घबरा उठा था, जैसे-तैसे पानी मे से निकल कर किसी ऊँचे स्थान पर जाकर बैठ गया। भाग्यवश उधर से एक हंस उड़ता जा रहा था। उसकी परोपकारी दृष्टि उस कांपते हुए, ठिठुरते हुए चूहे पर पड़ी। अगर हंस की जगह कौवा होता तो देखते ही झपट्टा मारता और उठा कर ले जाता और गटक जाता, मगर वह हंस था—बाहर से भी उज्ज्वल और भीतर मे भी उज्ज्वल। वह कागड़े की तरह भीतर-बाहर से काला नहीं था।

कौवा और चील भी तो चूहे को उठा कर ले जाते हैं, मगर रक्षण की बुद्धि से नहीं, भक्षण की बुद्धि से उठाते हैं। वे उसके सर्वस्व को लूटने के लिए उठाते हैं। मगर जो परोपकारी होते हैं, हितैषी होते हैं और हंस जैसी उज्ज्वल भावना वाले होते हैं, वे किसी को उठाते हैं तो रक्षण की दृष्टि से ही उठाते हैं।

हंस ने चूहे को उस दयनीय दशा मे देखा तो उसका दिल दया से द्रवित हो उठा। नीचे उतर कर उसने चूहे को अपने परों के नीचे दबा लिया। उसने केवल रक्षा करने की बुद्धि से ही ऐसा किया था। वह वर्षा का कष्ट सहन करके भी चूहे की रक्षा करने लगा। वह अपने सुख को ठुकरा कर और आराम की परवाह न करके चूहे को आराम पहुँचा रहा है।

वाह रे हंस ! तेरी जैसी वृत्ति के जो लोग होते हैं वे भी स्वयं नाना प्रकार के दुःख झेल कर भी दूसरो को सुख पहुँचाते हैं । किन्तु जो गद्दार होते है, चील और कौवे की तरह समाजद्रोही और विश्वासघाती होते हैं, वे यही योजनाएँ निर्माण करते रहते हैं कि किस प्रकार किसी को दबोचें, नीचा दिखलाएं और नीचे गिराएँ । परन्तु दूसरों को नीचा दिखाने का विचार करने वाले स्वयं ही नीचे गिर जाते हैं । जो दूसरो को गिराने के लिए गड्हा खोदता है, उसके लिए कूप तैयार हो जाता है । जो दूसरों को चाकू दिखलाता है, उसे छूरा देखना पड़ता है ।

मगर हंस ने अपनी वृत्ति का परित्याग नहीं किया और मुसलाधार वर्षा मे भी चूहे का रक्षण किया, उसे सर्दी से बचाया । हंस मोती चुगने वाला था, उसमे गर्मी थी और सर्दी को सहन करने की शक्ति थी । थोड़ी ही देर में चूहे के शरीर मे गर्मी पहुँची और वह होश में आ गया । वह होश मे तो आ गया पर उसने अपने स्वभाव को नहीं छोड़ा । उस कम्बख्त ने अपनी दुष्ट प्रकृति का परिचय दे ही दिया ।

हंस तो हमेशा उपकार ही करता है । जो उस के समान नेक होते हैं वे दूसरों का भला ही करते हैं । उनकी कामना यही रहती है

कि संसार के सभी जीव सुखी रहें। वे समग्र विश्व को सुखी देखना चाहते हैं।

सज्जन पुरुष अपने सौजन्य का परिचय देते ही जाएंगे और भला करते ही जाएंगे, मगर जो अपनी आदत से लाचार हैं, उन की बात दूसरी है। सांप को कितना ही दूध पिला दो, वह विष उगले बिना नहीं रहता और कुत्ते को कितनी ही दूध-मलाई खिला दो, जूठन में मुंह डाले बिना नहीं रहता।

निन्दा करने वाले—बुराई करने वाले कुत्ते के समान हैं। परन्तु सत्पुरुषों को सोचना चाहिए कि वे हमारे ऐबो की, खराबियों की सफाई करने वाले हैं। ऐसा सोच कर उन्हें उन का भी भला करते जाना चाहिए। क्योंकि भलाई का नतीजा सदैव भला ही होता है।

हां, तो उस हंस ने अपनी भलाई का ही परिचय दिया और चूहे को मरने से बचा लिया; परन्तु अफसोस ! चूहे ने भी अपनी नीच प्रकृति का परिचय दे ही दिया। उसने हंस का वजन हल्का कर दिया अर्थात् हंस के पर काट दिए और फुर्ती से दूर भाग गया। थोड़ी देर बाद हंस उड़ने लगा तो उड़ न सका, क्योंकि उसके पंख कट चुके थे। चूहे ने भलाई के बदले बुराई की। यद्यपि चूहा जी गया किन्तु जी कर भी अपने उपकारी का अपकार करने के कारण मानों मर

गया ! हंस ने थोड़े दिन कष्ट भोगा और ठीक हो जाने पर वह उड़ गया । उपकार करने के कारण उसके जीवन की रक्षा हो गई ।

जीवन भी दो प्रकार का होता है— सूक्ष्म जीवन और स्थूल-जीवन । स्थूलजीवन तो शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता है और उसी के लिए यह रोना-धोना है, किन्तु परोपकारमय सूक्ष्म जीवन मरने वाले के साथ जाता है ।

याद रखिए, जो मौत को भूल जाते हैं, उनका जीवन प्रफुल्लित नहीं होता । अतएव हमेशा मौत को सामने रक्खो । अमरत्व का पट्टा कोई साथ मे लेकर नहीं आया । यह पार्थिव शरीर तो बनने वाला है और बन कर नष्ट होने वाला है । इससे किसी का भला हो सके तो भला करो ।

तो स्थूलजीवन का संबंध तब तक रहता है जब तक कि शरीर में प्राण होते हैं, मगर आगे-पीछे उसका अन्त आता ही है । मगर जो सूक्ष्म जीवन होता है, वह मरने के बाद भी जिंदा रहता है । सूक्ष्मजीवन क्या है? नेकी करना, भलाई करना, इन्द्रियदमन करना, बिगड़ी को बनाना, फटे हुए को सांध देना, रोते को हँसाना, किसी बिछुड़े को गले लगाना आदि जो भी परोपकार के कर्त्तव्य हैं, वही सूक्ष्मजीवन है । यही आत्मजागरण है और यही जीवन मरने के बाद

जिंदा रहता है उस सूक्ष्म जीवन को पानी गला-सड़ा नहीं सकता और अग्नि जला नहीं सकती ।

परन्तु आज के मानव ने अपने जीवन की सार्थकता केवल भौतिक सुख-सुविधाओं मे मान ली है । वह तो धनराशि से भरी हुई तिजोरी को देख-देख कर ही खुश हो रहा है और बिम्बोष्ठियों को अधर मुस्कान को निहार कर ही अपने जीवन का कल्याण समझ रहा है । मगर याद रखिए तिजोरी और है तथा उस के महत्त्व को बढ़ाने वाली धन-दौलत की मात्रा और चीज है । यदि इस शरीर रूपी तिजोरी मे से वह मात्रा निकल जाय तो फिर इस की कद्र ही क्या है? केवल खाली खोखा रह जाता है जो जलाने के सिवाय किसी काम नहीं आता । इस स्थूल शरीर की कीमत सूक्ष्म जीवन के साथ है । जिसका भलाई-धर्मसाधना का जीवन नष्ट हो जाता है, वह स्थूल जीवन के खोखे को भले संभाले बैठा रहे; उसकी उपयोगिता ही क्या है ! भूल न जाना कि आज यदि बाजार मे भुगतान करना है तो इस तिजोरी से नही, किन्तु इस मे रक्खे हुए माल से करना है । अतएव मनुष्य के जीवन का विकास गिरते हुए को उठाने में है, न कि उठते हुए को गिराने मे ।

जो दूसरो का जीवन बनाता है वह अपना भी जीवन बनाता है । दीवार बनाने वाले कारीगर को देखिए । ज्यो-ज्यो वह दीवार

को ऊँचा उठाता जाता है, त्यों-त्यों दीवार भी उसे ऊँचा उठाती जाती है। वह अपने उपकारी को नीचा नहीं रहने देती। किन्तु जो मजदूर दीवार को गिराने का काम करता है, वह दीवार के साथ-साथ स्वयं भी नीचा होता जाता है और अन्त में जमीन पर आ जाता है।

ऐ मनुष्य! तेरा उत्थान और पतन तेरे ही हाथ में है। अगर तू समाज, जाति, संघ, राष्ट्र और गिरे हुए भाइयों को ऊंचा उठाएगा तो एक दिन तू भी उन्नति के शिखर पर पहुँच जाएगा और आसमान से बातें करने लगेगा। और यदि तू दूसरों को गिराने की कुचेष्टा करेगा तो तेरा अधःपतन भी निश्चित है। तुझे धराशायी होने से कोई नहीं बचा सकेगा।

तो वह दीवार उद्बोधन देती है कि हे मानव! तू राज बन कर, एक - एक ईंट मिला कर दीवार को ऊँची उठाने का तो प्रयत्न कर जिससे तेरा जीवन चमक उठे; परन्तु मजदूर बन कर, जो ईंटें मिली हुई हैं और एक मजबूत दीवार की शक्ल में हैं और जिन्हें मिलाने वाले ने बहुत मिहनत करके बहुत दिनों मे इस शान पर पहुँचाया है, उन्हें पृथक्-पृथक् करके, गिरा करके, अपने पतित होने और सर्वनाश करने की दुष्टता का परिचय न दे।

सज्जनो! बड़े-बड़े महारथियों ने मिल कर एक सुन्दर दीवार-

खड़ी की है। कोई महारथी महाराष्ट्र से, कोई मालवा से, कोई पंजाब से और कोई मारवाड़ से आकर एकत्र हुए। उन्होने बड़ी गंभीरता से परस्पर परामर्श किया, फिर एक विचार शृंखला मे आवद्ध हो कर श्रमण संघ रूप दीवार की नींव डाली और आज पाँच वर्षों मे संगठन का यह भव्य भवन बन कर तैयार हो गया है।

मजदूर - भावना वालों, गिराने की इच्छा रखने वालो को चाहिए तो यह था कि वे इस भव्य भवन को दृढ करने मे सहयोग देते और भगवान् का सच्चा भक्त होने का परिचय देते, जिससे वे भी इस सुन्दर भवन की शरण में आ सर्दी-गर्मी से अपना बचाव कर सकते; परन्तु जिन मे ऐसी उदात्त भावना ही नहीं, उन्हें क्या कहा जाय। याद रक्खो, उस बिल्डिग को तुम्हारी जरूरत नहीं है, जरूरत है तो तुम्हीं को है उस बिल्डिग और दीवारो की। फिर भी संगठन का भव्य भवन कहता है और पुकार-पुकार कर तुम्हारा आह्वान करता है कि तुम मेरी शरण में आ जाओ। क्यों नाहक सर्दी से ठिठुर रहे हो और क्यो वर्षा मे भीग रहे हो? आओ, आओ! मैं तुम्हारा स्वागत करता हूं। यह दरवाजा तुम्हारे लिए खुला है और सदैव खुला रहेगा।

जिन का भाग्य-सितारा बुलंदी पर है, जिन के दिन अच्छे हैं,

जिन्हें अपने जीवन को सुरक्षित रखना है और अपनी मानवता का उत्तरोत्तर विकास करना है, वे मकान में आ गये और आ रहे हैं। याद रखना इस फ़कीर की बात, जो संगठित होते हैं वही शक्तिशाली होते हैं और वही नाना प्रकार के कष्टों से बचते हैं।

तो यह श्रमणसंघ और श्रावकसंघ तुम्हें प्रेमपूर्वक आमन्त्रित कर रहा है, आह्वान कर रहा है। निस्संकोच भाव से इस की शरण में आ जाओ। तुम्हारा कल्याण होगा।

अरे हतभागी ! तू किस खयाली दुनिया मे चक्कर काट रहा है? किस गुरुघंटाल से तुझे परामर्श करना है? यह तो सीधी सी बात है कि जब वर्षा होती है तो प्रत्येक व्यक्ति किसी भी मकान मे घुस कर अपनी रक्षा करता है।

यह फ़कीर तुम्हें शुभ चेतावनी दे रहा है कि संगठन के बिना जीवन मे कोई चेतना, स्फुरणा, जागृति नहीं है। इसलिए महानुभावो ! यदि अपना उत्थान चाहते हो दीवार को ऊँची उठाओ, उठी दीवार को नीचे न गिराओ। दीवार बनाने वाला राज होता है और गिराने वाला मजदूर होता है। आप स्वयं विचार करलें कि आप किस श्रेणी मे रहना चाहते हैं? बनाने वाला तो उत्तरोत्तर मस्तक ऊँचा किये, आकाश की ओर प्रयाण करता है और गिराने वाले के सिर मे धूल

ही धूल पड़ती रहती है। वह एक दिन नीचे की ओर ही चला जाता है। उधर तो उत्थान और पतन दोनों चीजें तैयार हैं, जिसे चाहो उसे पसंद कर लो। मेरी तो यही कामना है कि आपको सद्बुद्धि प्राप्त हो, आपके हृदय मे जीवन निर्माण करने की उदारता जागृत हो, जिससे आप संघ, समाज और जाति की उन्नति कर सको। और इस संघठन रूप भवन को रंग-रोग़न लगा कर और भी सौन्दर्य प्रदान कर सको और संगठन में चार चाँद लगा सको।

इस अपूर्व माला के मणियों को सुन्दर और मजबूत धागे में पिरोते जाओ और इसे विशालता प्रदान करते जाओ। गिरते हुए को उठाते जाओ और धर्म में दृढ़ करते चलो। अगर आपने इस मूल्यमय परामर्श को ध्यान में रख लिया तो आप स्थिरीकरण दर्शनाचार का पालन करके अपने सम्यक्त्व को निर्मल बना सकोगे। इससे आप के सम्यक्त्व को वेग मिलेगा, वृद्धि प्राप्त होगी। याद रखना कि दूसरों की उन्नति में अपनी उन्नति है और दूसरो के ह्रास मे अपना ह्रास है। ऐसा समझ कर जो दूसरो को धर्म में स्थिर करते हैं, वे ससार-समुद्र से पार हो जाते हैं।

ब्यावर
२७-९-५६

॥ १० ॥

वात्सल्य

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः, सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः, पूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्त–सुपाठका मुनिवरा, रत्न–त्रयाराधकाः,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं, कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

उपस्थित धर्मप्रेमी सज्जनो और बहिनों !

सम्यग्दर्शन के विषय में कई दिनों से प्रवचन चल रहा है। सम्यक्त्व के आठ अंगों का विवेचन करते भी कई दिन हो गये हैं। समकितधारी को चाहिए कि वह आठ बातों का आचरण करे, उन्हें जीवन में उतारे। ऐसा करने से सम्यक्त्व की पुष्टि होगी। सम्यक्त्व फूलेगा-फलेगा और सम्यक्त्व मे विशेष रूप से प्रकाश चमकने लगेगा।

कल स्थिरीकरण दर्शनाचार के संबंध मे प्रकाश डाला था।

धर्म से गिरते हुए प्राणी को धर्म में स्थिर करना महान् लाभकारी है। कोई मनुष्य ऊपर से नीचे गिर रहा हो और गिरने से उसे चोट लगने वाली हो और मरने की भी संभावना हो रही हो, किन्तु कोई व्यक्ति उसे थाम ले, झेल ले और गिरने से पूर्व ही पकड़ कर गिरने से बचा ले तो वह व्यक्ति और उसके कुटुम्बी बचाने वाले का ऐहसान मानते हैं और उसे दयालु देवता के रूप में देखते हैं।

सज्जनो ! बचाने वाले ने उसके द्रव्यप्राणों की रक्षा की है। तिस पर भी जन्म भर उस का ऐहसान नहीं बिसारा जाता; परन्तु जो धर्म से गिरते हुए को, धर्म विमुख होने वाले को धर्मोन्मुख करता है, वह उसके धर्म रूप भाव प्राणों की रक्षा करता है, अतएव अत्यधिक प्रशंसनीय कार्य कर रहा है—अपने लिए भी और उसके लिए भी। द्रव्य प्राणों की रक्षा से भी भाव प्राणों की रक्षा करना बहुत महत्त्व पूर्ण है।

जीव जिस योनि में भी जाएगा, प्राण अवश्य मिलेंगे। कोई योनि ऐसी नहीं जहाँ प्राण न पाये जाते हो। इस प्रकार द्रव्य प्राण तो सब प्राणियों को कम या ज्यादा संख्या मे मिलते ही हैं, मगर धर्म रूप प्राण बहुत दुर्लभ है। धर्म के प्रति निष्ठा-विश्वास होना यह आत्मा का अंतरंग प्राण है। अगर यह प्राण आत्मा मे से निकल

जाते हैं तो इनका मिलना बहुत मुश्किल हो जाता है। द्रव्यप्राणों की अपेक्षा आत्मा के भाव प्राणों का मूल्य बहुत अधिक है। द्रव्य प्राण तो भौतिक हैं जो बनने और बिगड़ने वाले हैं। अनादि काल से यह परम्परा चली आ रही है। वास्तव में देखा जाय तो द्रव्य प्राण ही आत्मा को मोक्ष मे जाने से रोके हुए हैं। हमें इन प्राणों की उपेक्षा तो नहीं करनी चाहिए किन्तु यह समझना चाहिए कि यह प्राण हमारी धर्मसाधना के लिए, धर्म कार्य करने के लिए हैं और अन्त में इन प्राणों से पूर्णतया विमुक्त होने पर ही मोक्ष होगा।

तो आशय यह है कि द्रव्य-प्राणों की भी जो रक्षा करता है, लोग उसकी प्रशंसा करते हैं और बड़ा ऐहसान मानते हैं, मगर धर्म प्राण तो इससे भी अधिक मूल्यवान् हैं। जो मनुष्य उन से विलग हो रहा है, जो कि आत्मा की निज की सम्पत्ति हैं, उन की रक्षा करने वाला और भी बड़ा भारी प्रशंसनीय काम कर रहा है। उसने दूसरे का तो भला किया ही है, वास्तव में अपना भी भला किया है।

किसी मनुष्य को बोध देना, धर्म से डिगते हुए को धर्म मे स्थिर करना महान् लाभ का काम है। ऐसा करने वाले को धर्म की बड़ी भारी दलाली मिलती है। उसकी बुद्धि निखर जाती है।

दर्शनाचार की आठों कड़ियाँ क्रमशः एक दूसरी से मिली हुई

हैं, जैसे विद्यार्थी के पाठ्यक्रम की कड़ी जुड़ी रहती है। जिस प्रकार एक कक्षा दूसरी कक्षा के साथ संबद्ध रहती है और पहली कक्षा के बाद ही दूसरी कक्षा आती है। विद्यार्थी क्रमशः ही उत्तरोत्तर ऊँचा चढ़ सकता है। यही बात आध्यात्मिक क्षेत्र में दर्शनाचार की सीढ़ियों के संबंध में समझनी चाहिए। इन सीढ़ियों को क्रमशः पार करते हुए ही हम दर्शन क्षेत्र में ऊँचे चढ़ सकते हैं। जिस बालक को ऊँची शिक्षा प्राप्त करना है, उसे पहली, दूसरी आदि के क्रम से ही कक्षाओं को पार करना होगा। इमारत बनेगी तो पहले पहली, फिर दूसरी और फिर तीसरी मंजिल बनेगी। पहली मंजिल से एकदम तीसरी मंजिल बनाना मेरे ख्याल से असंभव बात है।

सज्जनो! प्रत्येक भौतिक पदार्थ को आधार की आवश्यकता है। पहली मंजिल को पृथ्वी के आधार की आवश्यकता है तो दूसरी मंजिल को पहली का आधार चाहिए। यद्यपि हमे पहली मंजिल से दूसरी और तीसरी मंजिल पृथक् नजर आती है, मगर पहली मंजिल के आधार पर ही दूसरी मंजिल खड़ी है। दूसरी मंजिल भले ही अपना स्वतंत्र अस्तित्व मान ले किन्तु पहली मंजिल के आधार के बिना वह टिक नहीं सकती। पहली मंजिल की दीवारें गिर जाएं तो ऊपर की सारी मंजिलें धराशायी हो जाती हैं।

तो मैं बतलाने जा रहा था कि दर्शनाचार का आठ मंजिल का

सुन्दर भवन है। इन आठ आचारों से मनुष्य अपने आपको ऊंचा ले जा सकता है। यह मंजिलें भी परस्पर सम्बद्ध हैं। अब प्रश्न यह है कि धर्म से गिरते हुए प्राणी को स्थिर करने की भावना कब उत्पन्न होगी? इस का उत्तर यह है कि किसी गिरते हुए प्राणी को बचाने, उठाने और गले लगाने की भावना तभी उत्पन्न हो सकती है जब हृदय में वात्सल्य का भाव विद्यमान हो। अतएव दर्शनाचार की सातवीं सीढ़ी या मंजिल वात्सल्य-भाव है।

धर्मात्मा पुरुषों के प्रति प्रेमभाव होना, राग होना, प्रीति होना वात्सल्य भाव है, जिसे आप स्वाधर्मीवच्छल भी कहते हैं। जैसे माता अपने शिशु के प्रति वात्सल्य का भाव प्रदर्शित करती है, उसी प्रकार स्वधर्मी पुरुषों के प्रति वत्सलता का भाव होना चाहिए।

यहां भी शंका हो सकती है, क्योंकि यह तर्कवादियों का जमाना है। तर्क होना उचित भी है, क्योंकि तर्क किये बिना ज्ञान का विकास नहीं होता। मगर तर्क संगत होनी चाहिए, कुतर्क नहीं। कुतर्क में मनुष्य मूल को भी गँवा बैठता है। एक संस्कृत भाषा का ज्ञाता ब्राह्मण पंडित था। वह बड़ा शास्त्रज्ञ और तार्किक था। बाल की भी खाल निकालने वाला था। एक बार वह कटोरा लेकर घी खरीदने के लिए बाजार गया। घी खरीद कर जब लौट रहा था तो उस के दिमाग़ मे एक फितूर उठा। उसने सोचा—मैंने तर्क-शास्त्र पढ़ा, न्याय

पढ़ा, बड़े-बड़े संस्कृत के पोथे घोट कर कंठस्थ कर लिये और महा-भाष्य भी आद्योपान्त्य पढ़ डाला, मगर अभी-अभी मेरे दिमाग़ में यह तर्क उठ रहा है कि पात्र के आधार पर घृत है या घृत के आधार पर पात्र है ! प्रयोगात्मक पद्धति से परीक्षा करने का यह बड़ा उत्तम सुयोग मिला है।

सज्जनो ! जब अन्तराय कर्म का योग होता है तो जाव वस्तु की प्राप्ति हो जाने पर भी उसका उपभोग नहीं कर सकता। भोगा-न्तराय कर्म के उदय से वह भोग नहीं सकता। बनी-बनाई वस्तु भी बिगड़ जाती है, हाथ से निकल जाती है।

दीपावली के त्यौहार के अवसर पर हलवाई खांड की तरह-तरह की चीजें सांचे मे ढालकर बनाते हैं। उनमे हाथी, घोड़े, आदमी होते हैं। आप लोग अन्य मिठाईयों के साथ उन जीवाकृति मिठाईयो को भी लाते हैं। एक व्यक्ति मिठाई खरीदने बाजार गया। उसने अन्य मिठाईयों के साथ बाबा जी की आकृति की मिठाई भी देखी और दो नग बाबाजी के भी तुलवा लिये। वह व्यक्ति मिठाई ले कर आया और त्यौहार संबंधी जो विधिविधान करना था, वह कर चुका।

सज्जनो ! वार तो सात हैं किन्तु हिन्दुओ के त्यौहारों की कोई गिनती ही नहीं है। खैर। भोजन करने का समय हुआ तो संयोग

वशात् दो बाबाजी भी आ गए। उन्हें देख कर उस व्यक्ति ने कहा— आज हमारे अहोभाग्य हैं कि आपने हमारे घर को पवित्र किया। यहीं भोजन करने की कृपा करें। बाबा जी तो इसी मतलब से आये थे, अतएव उन्होंने झट निमंत्रण स्वीकार कर लिया। उस व्यक्ति ने सन्मानपूर्वक उन्हें आसन पर बिठलाया और कहा— मैं भोजन की तैयारी करवाता हूं।

यह कह कर वह सेठ भोजन की तैयारी करवाने के लिए अंदर चला गया। वह कोई जैन साधु नहीं थे कि दाता के घर जैसा भी रूखा-सूखा भोजन हो, ले आएं। साधु की तिथि नियत नहीं होती।

जोधपुर रियासत की बात है। विहार करते हुए हम कूडो गांव मे पहुंचे। वहां स्थानकवासी जैनो के घर कम ही हैं। लोग आये, साधुओं के दर्शन किये और एक भाई गोचरी के लिए घर दिखलाने को साथ हो गया। जब मैं एक घर मे गोचरी के लिए जाने लगा तो वह भाई बोला— महाराज जी, इस घर में आज नहीं जाना है। यह घर रख दिया है। यह बात सुन कर मैं चक्कर में पड़ गया और सोचने लगा— क्या इस घर को किसी के यहाँ गिरवी रख दिया है? मैंने उससे पूछा— किसके पास रख दिया है! तब वे भगत जी बोले— इसे कल के लिए रख दिया है, इस मे आप गोचरी कल को जाना।

यह सुन कर मैंने कहा— कल नहीं, आज ही इस घर को फरस लें। क्योंकि जब कल की तिथि मुकर्रर हो गई तो यहाँ कल हमारे उद्देश्य से आहार पानी की विशेष तैयारी की संभावना हो सकती है। आज इसके यहाँ निरवद्य भोजन है और कल गड़बड़-झाला हो सकता है।

तो उस भोले भाई ने हमारी कितनी चिन्ता की ! वह कितना शुभचिन्तक था महाराजों का, तभी तो उस भोले भाई ने कल के लिए घर रख दिया।

सज्जनो ! क्या हमने तुम्हारे भरोसे मूंड़ मुंडाया है ? नहीं, साधु का जीवन निराला है। वह किसी के ऊपर अवलंबित नहीं है। वह साधु के आचार-विचार के साथ अपना जीवन निर्वाह करने वाला है। हाँ, कुछ जैन सम्प्रदायों मे भी साधुओं के साथ गाड़े चलते हैं, मोटरें चलती हैं और जनसमुदाय साथ मे रहता है। कहिए, उन्हें किस बात की तकलीफ रही? किन्तु साधु का मार्ग क्या है?

पल्ले कभी न बांधते, पंछी औ दरवेश।
जिनको प्रभु का आसरा, उनको रिज़क हमेश ॥

साधु कल की परवाह नहीं करता। आपने किसी पक्षी के घौंसले में अगले दिन के लिए कुछ दाने रक्खे हुए देखे हैं? जब वे भी

अगले दिन की चिन्ता नहीं करते तब साधु तो निर्ग्रन्थ है। उसे कल की फिक्र क्यों होनी चाहिए? साधु चला जाय तो दो दिन में ही किसी के यहां चला जाय और न जाय तो महीने भर भी न जाय। साधू को गृद्ध नहीं होना चाहिए। साधु को कुलपिंडोलिया, ग्रामपिंडोलिया या देशपिंडोलिया नहीं होना चाहिए। उसे किसी भी कुल, ग्राम, प्रदेश या देश के आश्रित नहीं होना चाहिए। साधु का कर्त्तव्य है कि वह वायु की तरह हर जगह फैल जाय। उसे अप्रतिबंध विहारी होना चाहिए और जहाँ प्रासुक आहार मिले वहीं से उसे लाना चाहिए।

हाँ, तो वह कुड़ी ग्राम यों बड़ा था। अतएव वे भगत जी दूसरे दिन हमे ओसवाल जैनों के घर न ले जाकर जाट, गूजर सोनी आदि के घरों मे ले गये। वहाँ आप लोगों के घर जैसे पतले-पतले फुलके और शाक-दाल देखे। मगर उनके यहाँ लेते कैसे? मन से तो बात छिपी नहीं थी। आज के दिन ऐसे पतले-पतले फुलके इन लोगों के घर कैसे बनाए गये? पूछने पर भगत जी ने बतलाया- ये लोग दिन को ही खाते हैं। इन बातो को सुन कर बड़ा विचार आया कि भोले भगत किस प्रकार हमारे संयम पर कुठाराघात करते हैं!

सज्जनो! श्रावक का कर्त्तव्य तो यह है कि वह हमारे निर्दोष संयम के पालन में सहायक हो; मगर उन के सम्प्रदायगत गुरुओं ने

उन्हें पाठ ही ऐसा पढ़ा रक्खा है ! मैंने सोचा कि आज हमारे साथ ऐसी घटना घटी है तो पहले आने वालों के साथ भी ऐसा ही होता रहा होगा। हमने घर छोड़ा है तो अपने कल्याण के लिए छोड़ा है, दिखावे के लिए नहीं। संयमपालन का जो उत्तरदायित्व एक छोटे साधु पर है वही बड़े आचार्य पर भी होता है।

तो मैं कह रहा था कि जैन साधु अतिथि होते हैं। जिस कुल से गोचरी लाने की आज्ञा है वहाँ से ले आवे और आज्ञा नहीं है तो न लावे। इधर तो जैन साधु दूसरों के घरों मे कम जाते हैं, अतएव उन्हें हमारी विधि का पता नहीं है, किन्तु पंजाब में, सुबह के समय में, हम ब्राह्मणों, क्षत्रियो और वैश्यो के घरों में विशेष रूप से जाने का विचार रखते हैं ताकि आहार भी आ जाय और उन्हें विधि का भी पता लग जाय। इस पद्धति के कारण वहाँ बड़े नगरो मे सैकड़ों जैन साधु भी चले जाएँ तो भी निर्दोष आहार मिल सकता है।

हाँ तो जैन साधु अतिथि होते हैं परन्तु उस सेठ के यहाँ जो दो बाबाजी पहुँचे थे, वे अतिथि नहीं थे। उनके लिए भोजन की तैयारी होने लगी। तरह-तरह की चीजें बनाई जाने लगीं।

आप के यहाँ भी कई कहते हैं— महाराज, हमारे यहाँ गरम-गरम चीज बनी है, आप न पधार सकें तो छोटे महाराज को ही भेज

दें। परन्तु भाई, क्या ठंडी खाने से पेट दुखता है जो गरम-गरम खाना आवश्यक है ! जब गोचरी का समय होगा तो निकल पड़ेंगे। जरा सी विनति की और झट पातरे उठा कर चल दिये, यह साधु के लिए गौरव की बात नहीं है। गृहस्थ के घर बार-बार जाना भी अपनी लघुता प्रकट करना है। अगर साधु गृहस्थ के अधिक संपर्क में नहीं आएगा तो उसका मान रहेगा। अन्यथा किधर आया और किधर गया, कोई हिसाब ही नहीं रहेगा। आखिर शिष्टाचार भी कोई चीज है !

न्यौता जीमने वालों के चित्त में अकसर लोलुपता जाग उठती है। दो-चार घरों से न्यौता आ जाय तो वे पहले यह ध्यान लगाते हैं कि कौन सेठ और कौन ग़रीब है? सेठ का न्यौता मसालेदार होता है न ! अतएव पहले उसी का निमंत्रण स्वीकार किया जाता है। यद्यपि गरीब भी यथाशक्ति भावनापूर्वक अच्छी से अच्छी चीज बनाता है, फिर भी उस के यहाँ खा कर आते हैं तो कहते हैं— आज तो सारा मजा ही किरकिरा हो गया ! न्यौता जीमने वालो की दृष्टि मे जो चीज घी मे तली गई वह तो पक्की हो गई और जो न तली गई वह कच्ची ही बनी रही ! रोटी दो-दो जगह सेकी जाती है, फिर भी उन की दृष्टि में वह कच्ची ही रहती है ! इस प्रकार तर माल मिला तो वह खाने योग्य हो गया और न मिला तो उसे कच्चा कह कर खाने के अयोग्य करार दे दिया ! वास्तव में यह सब ढोंग है, बहाने बाजी

है और इसके पीछे कोई तथ्य नहीं है। यो तो मनुस्मृति मे सन्यासी के लिए भी न्यौता जीमने का निषेध किया गया है, पर उधर ध्यान देने वाले कितने हैं।

हाँ, तो जब सेठ के भोजन तैयार हो गया तो वह सेठ दूसरे कमरे मे मिठाई लेने को गया। उस का लड़का भी साथ हो गया। लड़के ने मिठाई के साथ रक्खे हुए उन दोनो बाबाजी को देखा और पूछा— पिता जी, यह क्या हैं? सेठ ने कहा— यह दोनों बाबा जी हैं। तब लड़का बोला– तो एक बाबाजी को मै खा लूं? सेठ बोला– हाँ, एक को तू खा लेना और दूसरे को मै खा लूँगा!

पिता - पुत्र की यह बातचीत उन दोनो बाबा जी ने सुनी तो समझे कि यह लोग हम को खाने की सोच रहे हैं! यह तो डाकी मालूम होते हैं। इसीलिए हमें इतनी देर से बिठा रक्खा है। यह हमें खिलाने की नहीं, खाने की तैयारी कर रहे हैं। अच्छा हुआ कि इन का यह वार्त्तालाप हमारे कानों में पड़ गया, इनके काले कारनामे हम समझ गये और सावचेत हो गये गफलत मे रहते तो आज मारे जाते।

दोनों बाबा इतने भयभीत हुए कि अपने जूते वहीं छोड़ कर पिछले दरवाजे से चुपचाप निकल कर भाग खड़े हुए। सेठ ने कमरे से बाहर निकल कर देखा तो बाबा जी गायब! पिछले दरवाजे से

देखा तो मालूम हुआ कि वे तो बेतहाशा भागे जा रहे हैं ! सेठ और लड़के ने उनका पीछा किया, लौटा लाने के लिए और पुकारा— ठहरो, ठहरो, बाबाजी, ठहरो । बात सुनो । मगर बाबाजी समझे कि ठहरे और इनके भक्ष्य बने । उन्होंने एक न सुनी और जब तक उन का पीछा करना न छोड़ दिया तब तक भागते ही गये । अंततः पिता-पुत्र हताश हो पीछे लौट आए ।

तो मामला क्या था ? भोजन तैयार था, जीमने वाले और जिमाने वाले भी तैयार थे और सब सुयोग था, मगर अन्तराय कर्म का उदय होता है तो उपस्थित सामग्री भी उपभोग में नहीं आ सकती । उस घी ले जाने वाले तार्किक पंडित के मन मे भी अन्तराय कर्म के उदय से तर्क उठा । उसने तत्काल परीक्षा करने का विचार किया कि घी के आधार पर पात्र है या पात्र के आधार पर घी है ? उसने कटोरा उलटा कर दिया । गर्मी का मौसम था और घी पिघला हुआ था । कटोरा उलटा करते ही घी जमीन पर गिरा और मिट्टी ने उसे सोख लिया ।

पण्डित सोचने लगा— दो रुपया का घी तो गया मगर एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत निश्चित हो गया। आज मेरी विद्या सफल हो गई। मैंने निर्णय कर लिया कि घी पात्र के आधार पर रहता है किन्तु

पात्र घी के आधार पर नहीं रहता। यह कुछ थोड़ा लाभ नहीं है।

सज्जनो ! यों तो साधारण मनुष्य भी आधार-आधेय को समझता है और जानता है कि आधार, आधेय के बिना और उसके साथ भी रह सकता है। पात्र आधार है और घी आधेय है। आधेय बिना आधार के नहीं रह सकता।

तो आधार-आधेय का यह संबध हमे दर्शनाचार के विषय में भी लागू करना है। मै कह रहा था कि दर्शनाचार आठमजिला सुन्दर भवन है, जिसमे बढिया-बढ़िया माल भरा है। प्रत्येक मजिल दूसरी मंजिल से जुड़ी हुई है। अतएव अगर एक मंजिल गिर जातो है तो सभी मजिलें धराशायी हो जाती हैं। अतः स्वधर्मी पुरुषो के साथ वत्सल्य भाव रखना चाहिए।

यहाँ यह आशंका हो सकती है कि स्वधर्मी के प्रति वात्सल्य भाव रखना और दूसरो के प्रति उपेक्षा का भाव रखना, यह वात्सल्य भाव कहां तक उचित है? मगर वात्सल्य भाव का अभिप्राय यह है कि धर्मनिष्ठ पुरुषों के प्रति विशेष रूप से स्नेह और सन्मान का भाव रखना चाहिए। व्यवहार मे आप सोने-चांदी के प्रति रक्षण की जैसी बुद्धि रखते हैं। वैसी रेतो के प्रति नहीं रखते। रेत को तो गली मे भी डलवा देते हैं क्योकि उसका सोने-चांदी जितना महत्त्व नहीं समझ

ते। वैसे तो जैन सिद्धांत की घोषणा है—

मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं ण केणइ।

अर्थात् विश्व मे जितने प्राणी हैं, उन सब को मैं अपना मित्र मानता हूँ और किसी के प्रति मेरा वैरभाव नहीं है।

सम्यग्दृष्टि का जीवन व्यवहार और विचार तो इतना उदार होता है कि वह प्राणीमात्र को अपनी आत्मा के ही समान समझता है। 'सव्वभूयप्पभूएसु' अर्थात् जितनी भी आत्माएँ हैं वे सब मेरी आत्मा के समान हैं। नीतिशास्त्र का विधान भी यही है—

आत्मवत् सर्वभूतेषु।

आशय यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव प्राणीमात्र के प्रति प्रेमभाव रखता है, मगर स्वधर्मी के प्रति विशिष्ट प्रेम और आदर उसके चित्त मे होता है।

यह धन दौलत की सारी दुनिया गृहस्थ के लिए हो तो है पर साधु के लिए तो कोई धन भी ग्रहण करने योग्य नहीं है। राख और रेत तो कदाचित् उसके काम आ सकती है पर सोना-चांदी उसके किसी काम का नहीं। हमारे गुरु महाराज एक बात सुनाया करते थे—

एक व्यक्ति अपनी सुसराल से मुकलावा ले कर नव-विवाहिता पत्नी के साथ घर लौट रहा था। वे दोनों प्राणी अपनी दुनिया में

मस्त थे। उन्होंने एक जगह बैठकर विश्राम लिया और आमोद-प्रमोद एवं किलोल में व्यस्त हो गये। काफी समय हो गया तो उन्होंने सोचा– अब चलना चाहिए, अन्यथा रात हो जायगी। वे उठ खड़े हुए मगर चलते समय अपना आभूषणों का डिब्बा वहीं भूल गये। वहां थोड़ी दूरी पर हम बैठे थे। उसी रास्ते से जब हम गुज़रे तो देखा कि एक डिब्बा पड़ा है। कोई दूसरा होता तो उसे उठा कर चलता बनता, पर उन्हें उससे कोई प्रयोजन नहीं था।

आशय यह कि पत्थर हमारे काम आ सकता है, किन्तु सोना-चांदी काम में नहीं आ सकता। कोई साधु होकर भी घर रक्खे, स्त्री रक्खे और पशुधन रक्खे तो मनुस्मृति में भी लिखा है कि वह साधु नहीं किन्तु गृहस्थ है। मनुस्मृति मे साधु की पहचान दो प्रकार की बतलाई है- बाह्य लक्षणों से और अन्तरंग लक्षणों से। घर, स्त्री और धन से रहित होना, सवारी न करना, जूते न पहनना, छाता न लगाना, शय्या पर न सोना, अंजन न लगाना आदि - आदि साधु के बाह्य लक्षण बतलाये गये हैं। हमारे वर्तमान आचार्य-पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज ने 'स्मृतिश्लोकसंग्रह' नामक ग्रंथ रचा है उस में इन सब बातों का विशद रूप से वर्णन किया है। जैन शास्त्र में भी जैन साधु के लिए तीन प्रकार के पात्रो का वर्णन आता है। साधु मिट्टी, काष्ठ या तुम्बे के पात्र ही रख सकता है। किसी धातु के पात्र रखता है

तो वह साधु नहीं है।

तो मैं कह रहा था कि स्वधर्मी भाइयों के साथ विशेष प्रेम रखना चाहिए, यों तो सभी जीव मित्र के समान हैं। ऐसा नहीं कि 'अंधा बांटे शीरनी मुड़मुड़ अपने ही को दे।' तुम्हारा विशेष सम्पर्क स्वधर्मियों के साथ रहता है, जो धर्म मे परायण हैं और जिन से धर्म की रक्षा होती है, अतएव उनके प्रति विशेष रूप से वत्सलभाव रक्खो। उन्हें किसी चीज की आवश्यकता हो तो बिना सकोच उन की सेवा करो। मगर आज की पद्धति और ही प्रकार की बन गई है– 'तुम हमारे यहाँ आओगे तो क्या लाओगे और हम तुम्हारे घर आएँगे तो क्या खिलाओगे!' कोई यह नहीं पूछता कि तुम्हें किस चीज की आवश्यकता है? आज की दुनिया में स्वार्थपरता का ही बोलबाला है। फिर भी स्वधर्मी भाइयों के साथ मिल कर बैठना चाहिए और मिल कर रहना चाहिए। धर्मगोष्ठी होनी चाहिए। धर्मगोठ-प्रीतिभोज होना भी वात्सल्यभाव के प्रकटीकरण का अच्छा उपाय माना गया है।

इस प्रकार जो-जो धर्मी पुरुषों की बातें हैं, उन की तरफ हमें अग्रसर होना चाहिए। उनके विषय मे प्रगति करनी चाहिए।

माता अपने बच्चे की हर तरह सेवा करती है, उसे सर्दी-गर्मी से बचाती है। वह तो मोह के कारण उसे पालती-पोषती है, किन्तु स्वधर्मियों की सेवा करना धर्मप्रेम है। उसमें और इस वत्सलभाव मे

ज़मीन-आसमान का अंतर है। यह वात्सल्य धर्म का पोषक है। मोह के कारण किये जाने वाले उस पोषण में भी यदि उदासीनता दिखाई जाय तो बच्चे की जिंदगी खतम हो सकती है। अतएव जब कोई नारी माता बनती है तो उस का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह ठीक ढंग से बच्चे का रक्षण करे। इसी प्रकार इस धर्मपोषक वात्सल्यभाव मे भी श्रावकों को उदासीनता नहीं दिखलानी चाहिए। यह वात्सल्य-परम्परा श्रावकों को ऊँची से ऊँची गति में ले जाने वाला है। अतएव अगर दस वीस भाई किसी समय पर एक जगह बैठें, भोजन करें और धर्म-चर्चा करें तो अवश्य अपने ज्ञान-चारित्र की वृद्धि कर सकते हैं। इस लिए स्वधर्मी बन्धुओं को परस्पर प्रेमपूर्वक मिलना-बैठना चाहिए।

जातीय भोज में सब इकट्ठे हो जाएँ और स्वधर्मीभोज के अवसर पर सब अलग-अलग खिचड़ी पकावें, यह क्या धर्म की उपेक्षा नहीं है ?

बच्चा स्कूल जाता है तो प्रारंभ मे माता-पिता उसे मिठाई देकर स्कूल भेजते हैं। बड़ा हो जाता है तो आप ही प्रसन्नता के साथ जाने लगता है। धर्मी पुरुष स्वधर्मियों को भी इसी प्रकार धर्म मे लगावें; फिर तो वे स्वयं ही रस लेने लगेंगे। इस प्रकार आपस में गहरी प्रीति रक्खो और समझो कि धर्म का रिश्ता किसी भी लौकिक रिश्ते से कम

नहीं है । ऐसा समझ कर आप बिगड़ी को बनाएंगे और बनी को बिगाड़ेंगे नहीं तो निस्सन्देह एक दिन अपने सम्यक्त्व को निर्मल बना कर संसार-समुद्र से पार हो जाएंगे ।

ब्यावर
२८–६–५६

॥ ११ ॥

प्रभावना

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः, सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः, पूज्या उपाध्यायकाः ।
श्रीसिद्धान्त-सुपाठका मुनिवरा, रत्न-त्रयाराधकाः,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं, कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

सज्जनो और धर्म बहिनो !

सम्यक्त्व का जो विषय चल रहा है, उस सिलसिले में दर्शन के आचारों का वर्णन करते हुए वात्सल्य दर्शनाचार का कल विवेचन किया जा चुका है। आज प्रभावना नामक आठवें दर्शनाचार पर प्रकाश डालना है।

जिस विधि से जिनशासन की, धर्म की एवं संघ की प्रभावना हो, उत्कर्ष हो, महिमा बढ़े, वह सब कृत्य इस प्रभावना दर्शनाचार मे

समाविष्ट होते हैं।

प्रत्येक धर्मनिष्ठ पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह ऐसा प्रयत्न करे जिससे लोग अधिक से अधिक संख्या मे धर्म की ओर, सत्य की ओर आकर्षित हो। जो लोग धर्म से विमुख हैं, दूर हैं, दूर ही नहीं बल्कि सत्य की निन्दा करते है, धर्म का अपमान करते हैं और धर्मात्माओ का उपहास एवं अपमान करते हैं, धर्मनिष्ठ पुरुषों को धर्म से विमुख करने का प्रयत्न करते हैं, ऐसे लोगो के लिए ऐसी योजनाओ का निर्माण करना और उपाय सोचना कि जिससे उनकी बुद्धि परिमार्जित हो और वे भी सत्य के पथ पर आ सकें, यह प्रभावना अंग है।

रोगी रोग से पीड़ित होकर मनचाहा बोलता है, मगर डाक्टर—उसकी परवाह न करता हुआ रोग के कारण की तलाश करता है और रोग को नष्ट करने के लिए नानाविध प्रयोग करता है। इसी प्रकार सत्य की निन्दा करने वालो को भला-बुरा न कह कर उन के दुष्कार्य के कारण को ढूंढ कर उसे निकाल देने का ही उपाय करना चाहिए। इससे उनके हृदय से मिथ्यात्व का जहर ही निकल जाएगा। इसी को कहते हैं— चोर को न मार कर चोर की माँ को मारना। ऐसा करने से वे धर्म की तरफ आकर्षित होंगे और उन का कल्याण होगा। साथ ही उनके द्वारा होने वाला दूसरों का अकल्याण भी रुक

जायगा।

हाँ, ध्यान रखना चाहिए कि ऐसे लोगों को सचाई की तरफ आकर्षित करने के लिए कोरा आडम्बर या तमाशा ही न किया जाय, इन्द्रियपोषण का प्रलोभन न दिया जाय, वरन् सचाई के साथ उनके हृदय को बदलाने और धर्मप्रिय बनाने का ही प्रयत्न किया जाय।

प्रभावना अष्टमुखी होकर संसार मे आई है। प्रभावना की अष्टमुखी योजना है। चिकित्सक का उद्देश्य है रोगी के रोग को दूर करना। एक दवा से लाभ होता न दीखे तो दूसरी दवा दी जाती है और दूसरी से लाभ न हो तो तीसरी दवा की आजमाइश की जाती है। जब तक रोग शान्त नही होता, डाक्टर के प्रयोग बराबर जारी रहते हैं। दवा कोई भी हो, उसमे रोग को मिटाने की शक्ति होनी चाहिए, मगर ऐसी न हो जिससे रोग उलटा बढ़ जाय। इसी प्रकार प्रभावना भी ऐसी होनी चाहिए जिससे मिथ्यात्व घटे किन्तु बढ़े नहीं। आज प्रभावना के नाम पर ऐसे भी कृत्य किये जाते हैं जिनसे मिथ्यात्व और हिंसादि दोष घटने के बदले बढ़ जाते हैं।

प्रथम प्रकार की प्रभावना है—प्रवचन प्रभावना। वीतराग देव के धर्ममय वचन प्रवचन कहलाते हैं। आज जो आगम हैं, सूत्र हैं, धर्मग्रंथ हैं, लोकोत्तर धर्मबोध देने वाले ग्रंथ हैं, जिनसे आत्मा का

कल्याण होता है, वे प्रवचन हैं। वर्त्तमान काल में जो भी शास्त्र उपलब्ध हैं, उनका ज्ञान होना चाहिए। एक ही सम्प्रदाय के शास्त्रों का ज्ञान हो, ऐसी बात नहीं; जैनधर्म की खुली घोषणा है कि साधु को चाहिए कि वह स्वमत और परमत दोनों के ग्रंथों की जानकारी करे। उसे अपने सिद्धांतों का तो पूर्णरूपेण ज्ञान होना ही चाहिए, साथ-साथ अन्य सम्प्रदायों के ग्रंथों का भी अवलोकन करना चाहिए। अगर तुम दुनिया में अधिक से अधिक धर्म का प्रसार करना चाहते हो और मिथ्यात्व को हटाना चाहते हो तो प्रत्येक मत के ग्रंथों का सावधानी के साथ अध्ययन करो और सत्य-असत्य का निर्णय करो। जब सत्यासत्य का विवेक प्राप्त होगा तभी सत्य को ग्रहण कर सकोगे और असत्य का परित्याग कर सकोगे।

तो जैन शास्त्रों का भी ज्ञान प्राप्त करो और दूसरी जगह से भी नफा देने वाला माल खरीदो। माल का खरीददार जहाँ भी अच्छा और सस्ता माल मिलता है, वहीं से खरीद करता है। जिस की दृष्टि शुद्ध होती है, वह किसी भी मजहब के ग्रन्थ से अच्छा माल खरीद सकता है। जब साधु के पास दुकान मे प्रत्येक मत की जानकारी का माल होगा तो वह विभिन्न मतावलम्बी ग्राहकों को उन की पसंदगी का माल दिखला कर कमाई कर सकता है। वह सचाई की बातें उन के ही ग्रन्थों का उद्धरण देकर बतला सकता है। जब वे अपने ही घर

के ग्रन्थों की सचाई को सुनेंगे तो उनका तुम्हारी तरफ आकर्षण होगा और फिर वे जैनसिद्धांत की सचाई को भी निस्संकोच ग्रहण कर सकेंगे।

दो प्रकार की रुचि वाले लोग देखे जाते हैं। कुछ लोग साम्प्रदायिक व्यामोह वाले होते हैं और कुछ ऐसे उदारचेता होते हैं जो हर जगह से सचाई को ग्रहण कर लेते हैं। साम्प्रदायिक व्यामोह वाले लोग सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य को स्वीकार नहीं कर सकते। इसी कारण कइयो ने लिख दिया है कि अपने धर्म मे रह कर मर जाना भला, परन्तु परधर्म को भयावह जानकर स्वीकार न करो। लोग इस प्रकार के विधान पढ़ कर दिमाग मे जमा लेते हैं और ऐसे कट्टरपंथी बन जाते हैं कि अपने आग्रह के सामने सत्य की परवाह नहीं करते।

इस प्रकार का कथन करने वालों ने अपने कथन की ग्रंथि खोली नहीं, उसका लोगों को सही मतलब समझाया नहीं और पढ़ने वालों ने यह समझ लिया कि अपने पंथ को छोड़ कर दूसरे धर्म में नहीं जाना चाहिए। आर्य समाज, हिन्दू, जैन, बौद्ध, ईसाई और मुसलमान धर्म वालों ने गांठ बांध ली कि हम जिस-जिस मत मे हैं वही हमारा धर्म है और उसके सिवाय दूसरे धर्म वालों की बात ही नहीं सुननी चाहिए। मगर गंभीरता पूर्वक सोचना तो चाहिए था कि उस कथन में क्या रहस्य छिपा हुआ है! उसका वास्तविक भाव क्या

है !

मिस्री यदि तेरे पास है तो भी मीठी है। और दूसरे के पास है तो भी मीठी है। हाँ, किसी के पास यदि संखिया है तो वह कटुक और प्राणनाशक है। मिस्री की मिठास किसी व्यक्ति पर निर्भर नहीं है, वह तो उसका निजी गुण है। इसी प्रकार धर्म में जो अच्छापन है, वह किसी व्यक्ति पर निर्भर नहीं। उसे किसी पंथ की छाप की भी आवश्यकता नहीं। ऐसा नहीं है कि अपने पास रहे तब तो धर्म है और दूसरे का स्पर्श हो जाय तो अधर्म है। धर्म तो त्रिकाल मे एक-रस रहता है; वह कभी अधर्म नहीं बनता। ऐसी स्थिति में अगर किसी ने कहा कि अपने धर्म को छोड़कर दूसरे के धर्म में नहीं जाना; तो बात बिलकुल सच्ची है, ऊँची उड़ान की है और आत्मबोधक है। किन्तु अज्ञान, धर्मान्धता और कट्टरता के कारण एक अच्छी चीज को भी बुरा बना दिया गया। जिस दवा से आत्मा को खुराक मिलनी थी, उसने आत्मा को दबा दिया। इससे हमारी मनोवृत्ति उलटी संकुचित हो गई और मनुष्य विभिन्न प्रतिस्पर्द्धी गिरोहो मे विभक्त हो गये।

सज्जनो ! स्वधर्म का त्याग कर परधर्म में न जाने का अर्थ दूसरा ही है। दुनिया मे दो पदार्थ हैं— जड़ और चेतन। इनके अतिरिक्त तीसरी कोई वस्तु नहीं है। यही दुरंगी दुनिया है। इन दोनों पदार्थों मे अपना-अपना धर्म-गुण है। वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, अचेतन-

ता आदि जड़ पदार्थों के धर्म हैं और ज्ञान आदि चेतन के धर्म हैं। कहा भी है— 'जीवो उवओगलक्खणो।' अर्थात् उपयोग–चेतना– जीव का लक्षण है। जीव मे चिन्तन मनन करने की शक्ति है, अच्छे-बुरे का विवेकज्ञान है; इसी से हम जीव को चेतन कहते हैं। एकेन्द्रिय जीव में जैसी चेतना है, केवली में भी वैसी ही चेतना है। चेतना से इन्कार नहीं, पर उसके विकास में अन्तर है। माचिस, दीपक, गैस, बिजली आदि का प्रकाश भी प्रकाश है और बीस - बीस मील तक फैलने वाला पानी के जहाज की बैटरी का प्रकाश भी प्रकाश है। किन्तु सर्वोपरि द्रव्य प्रकाश सूर्य का है जो लोक को आलोकमय बना देता है। यद्यपि यह सभी प्रकाश, प्रकाश हैं तथापि उन मे क्रमशः विकास परिलक्षित होता है। इसी प्रकार एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय की ओर जाएंगे तो आत्मविकास-ज्ञान-मे उत्तरोत्तर वृद्धि दिखलाई देगी और पंचेन्द्रिय से एकेन्द्रिय की तरफ चलेंगे तो ज्ञान मे ह्रास दिखाई देगा। तथ्य यह है कि ज्यों-ज्यो ज्ञानावरणीय कर्म का आवरण हटता जाता है, त्यों-त्यो चेतना का विकास बढ़ता चला जाता है। जब ज्ञानावरण कर्म का पूर्ण विनाश हो जाता है तो आत्मा का ज्ञानगुण भी पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। वही पूर्ण ज्ञान केवलज्ञान कहलाता है। इसके विपरीत जब ज्ञानावरण मे सघनता बढ़ती है तो ज्ञान का ह्रास भी बढ़ता है।

शास्त्र सुना देना और सुन लेना कोई बड़ी बात नहीं है। ज़बान का काम बोलने का है, परन्तु बोलने की तमीज़ भी होनी चाहिए। अगर अक्ल का दिवालिया बोल दे तो बनी बनाई बात भी बिगड़ जाती है। बोलने के साथ जिसका दिल और दिमाग़ भी काम करता है उस का बोलना वह रंग लाता है, वह सुगंध फैलाता है कि दुर्गंध भी सुगंध के रूप मे परिणत हो जाती है।

तो बोलने-बोलने में बड़ा अंतर है। कानो का काम है सुन लेने का—शब्दों को पकड़ लेने का और शब्दो का धर्म है कानों की पकड़ में आ जाने का। दोनों में ऐसी शक्ति है तो सौदा पट जाता है। यदि दोनों में से किसी एक में वह शक्ति न होती तो काम न बनता।

अब लोगो में जो संकीर्णता आ गई, उस का परिणाम यह आया कि कहने वालों ने यहाँ तक कह दिया कि खूनी हाथी के सामने चले जाओ परन्तु जैन मुनि के स्थानक मे या जैन मन्दिर मे मत जाओ। सुनने वालों ने यह नहीं समझा कि क्या वहाँ भेड़िये रहते हैं जो पकड़ कर खा जाएँगे! जैनों के साथ लेन देन किया जाता है, व्यापारिक संबंध भी स्थापित किया जाता है, फिर धर्म पक्ष में ही इतनी घृणा क्यों?

तो परधर्म का अर्थ वहाँ कोई सम्प्रदाय या पंथ नहीं है। वास्तव मे जड़ और चेतन संबंधी धर्म के विषय में वह वाक्य कहा

गया है। 'परधर्मो भयावहः' ये शब्द यह उद्‌बोधन करते है कि दूसरे का धर्म कितना ही आकर्षक हो, सुन्दर हो, किन्तु उस मे रमण न करके स्वधर्म मे ही रमण करना चाहिए। अर्थात् जड़ पदार्थ के गुण कितने ही सुन्दर और मनोज्ञ प्रतीत हो, उन मे न जाकर अपने शुद्ध चेतनधर्म मे ही विचरण करना श्रेयस्कर है।

जड़ के धर्म की तरफ मत जाओ, यह बात बड़े मार्के को और बड़ी सुन्दर थी। जड़धर्म की तरफ से हटाने को कही गई थी, मगर उसके तत्त्व को न समझ कर मनुष्य जड़ धर्म की तरफ तो पतगे की तरह भाग कर जा रहा है, मगर स्वधर्म अर्थात् चैतन्यगुणो की तरफ फूटी आंखों से भी देखना नहीं पसंद करता। इसी कारण यह भवचक्र अनादि काल से चल रहा है और आत्मा का निस्तार नही हो पाता है। इस कारण शास्त्रकार कहते हैं कि अपने धर्म को मत छोड़ो।

हे आत्मन्! तू अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन की निधि है। विश्व के सर्वोत्तम वैभव का तू ही स्वामी है। तुझे किसी के आगे हाथ फैलाने, गिड़गिड़ाने और मिन्नतें करने की जरूरत नहीं है। तू अपने स्वरूप को पहचान, अपनी सम्पत्ति को सँभाल और चैतन्यघन का चिन्तन कर। तुझे समझना चाहिए कि मैं सत् चित् आनन्दस्वरूप हूं। अनन्त ज्योति का धारक हूँ।

ऐ जीव ! अज्ञान का जो काला पर्दा तेरी दृष्टि को आवृत कर के फैला है, उसे उठा दे। फिर आत्मा मे अपरिसीम ज्ञान ही ज्ञान और आनन्द ही आनन्द नजर आने लगेगा। वह आत्मा की निज सम्पत्ति है।

हां, तो ज्ञान उपादेय है, फिर वह कहीं से भी क्यों न मिले। उपदेश कहीं भी जाकर सुन सकते हो। उपदेश सुनने के लिए कहीं भी जाने की मनाई नहीं है, शर्त यही है कि आत्मिक धर्म को न भूल जाओ। हां, जहां जाने से कुछ भी पल्ले पड़ने की सभावना न हो, वहां जाने की कोई उपयोगिता नहीं है। व्यापारी वहीं जाता है जहां उसके मतलब का माल मिलता हो। जिस दुकान में माल ही नहीं है, जो उजड़ी पड़ी है और कुत्ते ऊंची टाग करके पेशाब करके जाते हैं, उस दुकान में कोई नहीं जाता।

कई लोग गलत समझे बैठे हैं कि मैं मन्दिर आदि में जाने की मनाई करता हूं, परन्तु यह बात मिथ्या है। मैं वहां जाने का विरोधी नहीं हूं; मैं तो मिथ्यात्व के पोषण का विरोधी हूं। हां, जहां जाने से कोई लाभ न मिलता हो और मिथ्यात्व पल्ले पड़ता हो वहां जाना वृथा है।

संभव है कहीं ऐसी बात सुनने मे आवे जो आपके सिद्धांत से नहीं भी मिलती हो, फिर भी कोई न कोई बात तो मिलेगी ही जो

आपके लिए उपयोगी हो।

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः' इस वाक्य मे सम्प्रदायों से अभिप्राय नहीं है, किन्तु जड़ और चेतन के धर्म से मतलब है। चेतन का धर्म प्रकाशमय है और जड़ का धर्म अन्धकारमय है। किन्तु यह जीव तो दुर्भाग्य से प्रकाश को छोड़कर अंधकार मे जा रहा है।

जैनधर्म की घोषणा है कि सत्य का मंडन करो और असत्य का खंडन करो। तसवीर के दोनो पहलू देखने पड़ेंगे, तभी पूर्णता का पता चलेगा। कोई-कोई भक्त कहते हैं कि आप तो सत्य की महिमा करो और सत्य का ही मंडन करो और असत्य का खंडन मत करो। ऐसी-ऐसी शिक्षा देने वाले परोपकारी भी मिलते हैं। पर याद रखना, जब तक खोटे-खरे का ज्ञान न हो तब तक ठीक - ठीक सत्य असत्य का निर्णय नहीं हो सकता। मान लीजिए एक आदमी किसी गांव को जाना चाहता है। एक रास्ता खतरे का है और दूसरा साफ-सुथरा है। रास्ता बतलाने वाला इतना ही कहकर नहीं रह जाएगा कि ये दो रास्ते हैं, किन्तु उसे यह भी कहना पड़ेगा कि इस रास्ते मे तुझे चोर मिलेंगे, कांटेदार झाड़ियाँ मिलेंगी और शेर-चीते आदि जंगली जानवर भी मिलेंगे जिनसे तेरी जान को खतरा है। और दूसरे रास्ते में किसी तरह का खतरा नहीं है। आराम के साथ निश्चित स्थान पर पहुंच जाएगा।

तो मुझे अच्छे साधनों वाले मार्ग का भी वर्णन करना पड़ेगा और विपत्ति वाला मार्ग भी बतलाना पड़ेगा। अगर मैं सत्य रास्ते को बतला दूं और दूसरे रास्ते की बुराइयों पर प्रकाश न डालूं तो संभव है वह खराब रास्ते से चला जाय, जहां चोर हैं या जो रेगिस्तानी कष्ट प्रद रास्ता है। ऐसी हालत में लक्ष्य तक पहुँचना कठिन हो जायगा। हम आलनियावास नामक गांव से रीयां गांव जा रहे थे। यद्यपि पक्की सड़क भी जाती थी मगर उससे कुछ चक्कर पड़ता था। एक आदमी ने कहा— महाराज जी, रीयां तो वह सामने दीख रही है। आप सीधे इसी कच्चे रास्ते चले जाइए। हम उसी सीधे रास्ते से चल पड़े। मगर उस रेतीले रास्ते मे चलते-चलते पसीना-पसीना हो गये। फिर भी वह रीयां बस्ती न आई। हम लोग तो पंजाब की पक्की और ठंडी सड़कों पर चलने वाले हैं, वह रेतीला रास्ता काटना हमारे लिए कठिन हो गया और शांतिनाथ भगवान् ही याद आने लगे। गांव सामने दीखता था मगर पास नहीं आता था। आखिरकार जैसे-तैसे घबराये हुए ग्यारह बजे गांव मे पहुंचे। हमारे पीछे श्री प्यारचंद जी महाराज आने वाले थे तो हमने पत्र लिखवाया कि आप भी कहीं उसी रास्ते से न आ जावें, किन्तु दुर्भाग्य से वह पत्र उन्हे नहीं मिला और वे भी उसी रास्ते मे आये और चार घटे में चार मील ही चल कर आए।

तो आशय यह है कि नजदीक कह कर हमे उस रास्ते मे फँसा दिया। हम भी भटक गये। तो यह जो जड़धर्म है सो लोगो की नजर में नजदीक का है और इस में बड़ा आकर्षण मालूम होता है, किन्तु यदि उस मार्ग मे फँस गये तो फिर बहुत दूर जा पड़े। चेतनतारूप आत्मधर्म का रास्ता यद्यपि लम्बा है, मगर अच्छा है। विषयवासनाओं का मार्ग यद्यपि अच्छा लगता है, चित्ताकर्षक है, किन्तु उस मे फँसने वाले रास्ते में ही पड़े रह जाते हैं।

जो आत्मा ईश्वर को प्राप्त करना चाहती है, उसे रास्ते में ही नहीं रुकना चाहिए और श्रद्धापूर्वक अपना मार्ग तय करना चाहिए। बीच मे रुक जाने से परमात्मा का मिलना मुश्किल हो जायगा।

एक राजा के पुत्र नहीं था। उस का लम्बा चौड़ा राज्य था, विस्तृत कारोबार था। उसने सोचा– मरना तो है ही और मरने के बाद यदि कोई गद्दी का वारिस हुआ और उत्तराधिकारी बनाया गया तो क्या हुआ! क्या ही अच्छा हो कि मैं अपने सामने ही अपने उत्तराधिकारी की परीक्षा करके अपने हाथों से उसे राज्य का भार सँभला दूँ और मैं सन्यास ले कर अपना परलोक सुधारूँ। पीछे तो 'आप मुये और जग प्रलय' वाली बात होगी। कोई लम्पट, दुराचारी और प्रजा को कष्ट देने वाला गद्दीनशीन हो गया तो मेरी सात पीढ़ियो को कलंकित कर देगा।

सोच-विचार कर उस ने घोषणा पत्र निकाला कि दीवाली के दिन ठीक १२।। बजे जो व्यक्ति सबसे पहले मुझे मेरे बगीचे में मिलेगा, उसी को मैं राज्य का उत्तराधिकारी बना दूंगा। यह घोषणा दूर-दूर तक गावों में भी फैला दी गई जिससे कोई भी भाग्यशाली अपने भाग्य की परीक्षा दे सके।

सज्जनो! दस रुपये की प्राप्ति की आशा हो तो भी मनुष्य रात में भी भूखा-प्यासा भागा जाता है, फिर यहाँ तो विस्तृत राज्य मिलने की आशा थी। अतएव यह राज घोषणा सुन कर नाई, धोबी, तेली, तंबोली, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वगैरह अपने-अपने भाग्य की परीक्षा करने को रवाना हो गये। राजा को अपने उत्तराधिकारी की परीक्षा करनी थी, अतएव उसने पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशाओं में जोर-दार मेले भरवा दिये। कहीं गाना, कहीं नृत्य और कहीं नाटक हो रहा था। कहीं तरह-तरह की मिठाईयों से सजी दुकानें लगी थीं तो कहीं मनोहर प्रदर्शनियां भरी थीं और अजनबी चीजों की दुकानें लगी थीं। कहीं फौहारे छूट रहे थे तो कहीं रंग बिरंगे पुष्प अपनी मनोज्ञ सुगंध फैला रहे थे। मतलब यह है कि दर्शकों को रूप, रस, गंध और स्पर्श से आकर्षित करने वाली, मुग्ध बनाने वाली, लुभाने वाली सभी प्रकार की सामग्री पर्याप्त मात्रा मे सजा दी गई थी। राजा ने करोड़ो रुपया मेले भरवाने मे खर्च कर दिये थे। चारो ओर

आनन्द ही आनन्द के कण बिखर रहे थे। जैसे पारधि पक्षियो को फंसाने के लिए दाने डाल देता है, उसी प्रकार प्रत्येक जगह राज्य के उम्मीदवारों के लिए भी राजा ने एक प्रकार के मानो जाल फैलवा दिये थे।

बहुत से लोग दूर-दूर से राज्य लिप्सा से प्रेरित हो कर आने लगे। ज्यों ही उन्होने मेले का आकर्षण देखा, उनकी आँखें चौंधिया गई। भाँति-भाँति के अतीव आकर्षक पदार्थ देख कर वे चित्रलिखित से रह गये। जहाँ जरा खड़े हुए, वहीं टकटकी लगा कर देखते रह गये। उस जगमगाहट मे वे राज्य प्राप्ति के नियत समय को भी भूल गये। एक टोली मिठाई की दुकान पर पहुँची और तरह - तरह की मिठाईयों को खाने मे ही लीन हो गई तो दूसरी टोली नाटक और नुमाइश देखने मे तल्लीन हो गई। कोई वारांगनाओ का नृत्य देखने लगे तो कोई सुगंधित पुष्पो के सौरभ मे मग्न हो गये।

कहने का भाव यह है कि वे अपने आने के उद्देश्य को तो भूल गये और राग-रंग में ऐसे फँसे कि इन्द्रियो के विषयो के शिकार ही बन गये।

एक व्यक्ति सौ मील की दूरी से ऐसा दृढ़ संकल्प करके चला कि मुझे नियत समय पर बगीचे में अवश्य ही राजा से मुलाकात करनी है और ठीक समय पर सबसे पहले पहुँच कर राज्य लेना है।

ऐसा स्वर्ण-अवसर हर्गिज नहीं खोना है। उस का चित्त, मन और अध्यवसाय अपने लक्ष्य की ओर ही जुड़ा हुआ है । उसे राज्य के सिवाय और कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता। उसके रास्ते में भी वही सब नाटक, नृत्य, नुमाइश, दुकानें आदि प्रलोभन आवे, किन्तु उस दृढ़संकल्पी ने उनकी ओर नजर भी नहीं की और अपना चलना जारी रक्खा। मित्रों ने बहुत आग्रह किया कि जिंदगी का थोड़ा-सा मजा लूट लो और इन स्वर्गीय सुखों का कुछ मजा चख लो, मगर उस मनोविजेता ने किसी की बात नहीं सुनी। वह अपनी ही धुन मे आगे बढ़ता चला गया।

उसके मन मे उन लुभावने पदार्थो का कुछ मूल्य नहीं था। अखंड राज्य की प्राप्ति ही उसका एक मात्र लक्ष्य था। ऐसा व्यक्ति उन प्रलोभनो में कब फँसने वाला था ! उसने अपनी सभी इन्द्रियो को वशीभूत कर लिया था। वह बिना रुके सीधा अपनी राह चला गया और ठीक समय पर निर्विघ्न बगीचे में पहुँच गया।

राजा साहब शान के साथ अपने उत्तराधिकारी की प्रतीक्षा में बैठे थे। ज्यों ही इस व्यक्ति ने राजा को प्रणाम किया, राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने सन्मानपूर्वक आगन्तुक को अपने पास बिठलाया। तत्पश्चात् उस व्यक्ति ने कहा— महाराज, मैं आपके घोषणापत्र के अनुसार ठीक समय पर उपस्थित हो गया हूँ। मुझे राज्य का

अधिकारपत्र लिख दीजिए।

राजा बोला— जवान लेख से भी बहुमूल्य है। मै कहता हूँ कि तुम इस राज्य के उत्तराधिकारी हो चुके।

सज्जनो! आज मनुष्यो की जबान निकलते भी देर नहीं लगती और वापिस घुसते भी देर नहीं लगती। मगर हाथी के दाँत तो जो बाहर निकल गये सो निकल गये; वे फिर अंदर नहीं जाते। मर्दों का काम पीछे हटने का नहीं है। उनके जो वचन निकल गये सो निकल गये। वे वापिस नहीं हो सकते।

मिश्र भाषा बोलने वाले कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं। किन्तु जो बात हो, साफ होनी चाहिए। मिश्र पंथी न तो मुर्दों में और न जिंदो मे ही होते है। सत्यवादी गोलमोल भाषा का प्रयोग नहीं करते। जो कहते हैं, साफ और सत्य ही कहते हैं। वे शांति को भंग करने वाली अथवा विद्वेष की आग प्रज्वलित कर देने वाली भाषा का प्रयोग नहीं करते। और जो ऐसा करते हैं उन का जीवन पतन की ओर अग्रसर होता है। समय आने पर उन्हे अन्तर्वेदना होती है तो सिसकती हुई अन्दरूनी आवाज में अपने पापों का प्रायश्चित्त करते हैं। उस समय वे सोचते हैं— हाय हाय, मैंने मद में छक कर, राग-द्वेष के वशीभूत होकर काली करतूतें कीं, मगर अब उनका दारुण परिणाम भोगना पड़ रहा है!

सज्जनो ! राग-द्वेष बहुत बुरी चीज है। पक्षान्ध होकर मनुष्य कृत्याकृत्य का भान भूल जाता है !

पूज्य सोहनलाल जी महाराज पंजाब के साधुसम्प्रदाय के आचार्य थे। उनका वह रोबदाब और प्रभाव था कि क्या मजाल किसी साधु की कि पूज्य श्री के कहीं दूर होते हुए भी किसी प्रकार की संयम में गड़बड़ कर सके। उन्होने ३०—३२ वर्ष तक एकान्तर उपवास किये।

श्री सोहनलाल जी, शिवदयाल जी, दुलोराय जी और गरणपत राय जी जब गृहस्थावस्था मे थे तो एक दिन पौषध में चारो ने दीक्षा लेने का विचार किया। विचार निश्चय के रूप मे परिरणत हो गया। चारों ने एक दूसरे को जबान दे दी। वह मर्दो की जबान थी। कह दिया सो कह दिया। वे कह कर मुकरने वाले मां के पूत नहीं थे। शेरनी के सपूत थे जो वैराग्य के मैदान मे दहाड़ते हुए आ गए। चारों वैरागी बन गये और फिर दीक्षित हो गये। उनमें से पूज्य सोहन लाल जी महाराज पंजाब के प्रसिद्ध आचार्य हुए। श्री शिवदयाल जी महाराज को २२सूत्र कंठस्थ थे। श्री गरणपत राय जी महाराज वर्तमानाचार्य श्री आत्मा राम जी महाराज के पड़दादा गुरु थे और दुलोराय जी महाराज महान् तपस्वी थे। उन्होने अपने तपो-बल से जाटों के गांवों मे जा कर अहिंसा का ऐसा प्रचार किया कि हजारों लोग मद्य-मांस का त्याग कर गये।

हां, तो पंजाब संघ में एक बार पत्री और परम्परा का विवाद प्रारंभ हुआ। उस सिलसिले मे एक नौजवान ने पक्षपात मे आ कर महान् योगी चारित्र चूड़ामणि बाल ब्रह्मचारी पत्री पूज्य सोहन लाल जी महाराज पर किसी प्रकार का मिथ्या कलंक लगा दिया। मगर कुछ दिनो बाद अशुभ कर्मों का उदय आने से उसकी दोनो आंखें बंद हो गई। आँखें वैसी ही खुली नजर आती थीं परन्तु उनमे देखने की शक्ति नहीं रह गई थी। मैने उस व्यक्ति को स्वयं ऐसी बुरी हालत मे देखा है।

तो मै कहने जा रहा था कि मनुष्य को बन सके तो गुणीपुरुषों का गुणगान करना चाहिए। कदाचित् गुण न गा सके तो कम से कम गुणी जनों की निन्दा तो नहीं करनी चाहिए। अतएव राग-द्वेष के भावी परिणाम को समझ कर इनसे बचने की कोशिश करो। राग-द्वेष और राग-रंग मे फँस जाने वाला व्यक्ति अपने ध्येय मे सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

देख लीजिए, बहुत-से लोग राज्यलिप्सा से प्रेरित हो दूर-दूर से आये थे, किन्तु राग-रंग में, विषय-वासना की पूर्त्ति के साधनों में, इन्द्रियो की तृप्ति में ऐसे फँसे कि अपने कर्त्तव्य को भूल गये। किन्तु वह एक व्यक्ति, जो उनसे भी ज्यादा दूरी से आया था, अपने विचारों में इतना मजबूत रहा कि उसने समस्त प्रलोभनों की उपेक्षा की,

अपना लक्ष्य ही समक्ष रक्खा और आखिरकार उसने सफलता प्राप्त कर ही ली। जब उसने राजा से कहा— हजूर, मैंने रास्ते मे कुछ नहीं देखा, आराम भी नहीं किया और आपकी घोषणा के अनुसार सर्वप्रथम समय पर पहुँच कर आपसे मुलाकात की है, अतएव मैं राज्य का अधिकारी हूँ; तब राजा ने उत्तर दिया— यदि मैं अपनी घोषणा के विपरीत आचरण करता हूं तो मेरे जैसा नीच और कौन होगा?

मगर आज बहुत से मनुष्यों को जबान का ऐतबार करना भी मुश्किल हो गया है। इसी कारण पारस्परिक अविश्वास की मात्रा अत्यधिक बढ़ गई है।

हाँ तो राजा ने अपने भविष्य का सितारा चमका हुआ समझ कर बड़ी प्रसन्नता के साथ उस व्यक्ति को राज-सिंहासन पर आरूढ़ कर दिया और स्वयं ने सन्यास ग्रहण कर लिया।

अभिप्राय यह है कि उस व्यक्ति के सामने एक मात्र लक्ष्य राजा बनने का था। दूसरे हजारों व्यक्तियों ने अपने जीवन का लक्ष्य इन्द्रियों की परितृप्ति बना लिया जिससे वे भौतिक पदार्थों के आकर्षण में आकर रास्ते में ही फंस गये। उन का राज्य प्राप्ति का लक्ष्य तो दर किनार रहा, उन्होंने इन्द्रियों के भोगो को विशेष रूप से भोग लेने में ही जीवन की सार्थकता समझ ली। खा-पी कर मस्त हो जाने के

बाद उन्हें स्मरण आया--अरे ! हम तो राज्य लेने आये थे और बीच ही मे कहाँ फँस गये ! तब वे भागे और बगीचे में पहुँचे, मगर अब वहाँ क्या शेष रह गया था? राज्य लक्ष्मी तो कर्मठ पुरुष के गले में पहले ही वरमाला डाल चुकी थी। उन्हें धक्के देकर सिपाहियों ने निकाल दिया। वे निराश और हताश होकर पश्चात्ताप करते हुए लौटे।

इस दृष्टांत का आन्तरिक भाव यह है कि जो आत्मा परमात्म-पद रूपी राज्यप्राप्ति का लक्ष्य सामने रखकर चलता है, उसे परमात्मा रूपी राजा से अवश्य ही मुलाकात होती है। इन्द्रियों का पोषण करने वाले आकर्षक पदार्थों के प्रलोभन में फँस जाते हैं। इस संसार मे विषयवासना के विषैले पदार्थों का जाल फैला हुआ है। इस जाल मे बड़े-बड़े चक्रवर्ती, राजा-महाराजा, सेठ, सेनापति और साधारण लोग ऐसे फँसे कि आज तक नहीं छुटकारा पा रहे हैं । विरले ही मोक्षाभिलाषी महापुरुष ऐसे होते हैं जो भोगोपभोगों की उत्तम सामग्री को भी हिकारत की दृष्टि से देखकर ठुकरा देते हैं और उस में लुभाते नहीं हैं; बल्कि अपनी इष्ट सिद्धि की ओर ही अग्रसर होते रहते हैं।

सज्जनो ! इसी मनुष्यजन्म से परमात्मा के दर्शन और मुलाकात होना संभव है। यही मानव जीवन साक्षात परमात्मा बनने का

साधन है। पर मोक्ष का राज्य तभी मिलेगा जब कि तुम अपनी समस्त इन्द्रियों को वश में करके विषय-विकारों को, राग-द्वेष को एवं निन्दा तथा चुगली करने की वृत्ति को त्याग कर और मन को मोह-माया से हटा कर मोक्ष रूपी अक्षय आराम (बग़ीचे) की तरफ लगाओगे। ऐसा करने से एक दिन अखिल विश्व के राजा बन जाओगे और वह राज्य कभी नष्ट होने वाला नहीं है। अतएव मनुष्यजन्म को पाकर बीच की इन उपाधियों से बचते हुए अपने जीवन को पवित्र मार्ग की ओर ले जाना चाहिए।

संसार के समस्त सुख क्षणभंगुर हैं। ये किंपाक फल की तरह बड़े स्वादिष्ट लगते हैं, मगर इन के सेवन का परिणाम चौरासी के चक्कर में फँसना और जगह-जगह धक्के खाना है। यदि परमात्मा से मिलना है तो चेतन के विशुद्ध धर्म मे ही रमण करो यदि दुनिया के दुःखों को ही भोगना है तो जड़ पदार्थों को ग्रहण कर उनमे फँस ही रहे हो!

एक ओर मोक्ष का राज्य है और दूसरी ओर अनन्त जन्म मरण। यदि दुनिया के मोहजाल में, काम, क्रोध, मद, लोभ आदि विषय विकारों मे ही जीवन का आनन्द मान लिया तो फिर 'राजा' से नहीं मिल सकते।

सज्जनो ! निन्दा-चुगली आदि की परिणतियों को तो कम करो और धर्मकथा की तरफ मन को झुकाओ । ऐसा करने में आप का भी हित होगा और धर्म की भी प्रभावना होगी । आठवें दर्शनाचार प्रभावना की भी आठ योजनाएँ हैं । योजना को तैयार कर लेना और बात है तथा उस के अनुसार अमल करना और बात है । योजना की सार्थकता अमल करने में ही है । पहली प्रभावना है प्रवचनप्रभावना । प्रकृष्ट वचन अर्थात् वीतरागदेव के त्रिकालाबाधित, सत्य वस्तु के प्रतिपादक वचन प्रवचन कहलाते है । उनके महत्त्व को स्वय समझ कर संसार मे उनकी महत्ता का विस्तार करना प्रवचन प्रभावना है । वीतराग की वाणी की महिमा की प्रभावना करने के लिए हमे स्वमत और परमत के ग्रंथो का अध्ययन करना चाहिए ।

जैसे एक परखी होती है जो अनाज की बोरियो मे से नमूना निकालने के काम आती है । इसी प्रकार तुम स्वाध्याय रूपी परखी से स्व-परमत के ग्रंथों की परख करो । पड़ौसियो का माल भी देखो। वे तुम्हें काट नहीं खाएँगे । बल्कि ऐसा करने से तुम्हे वीतरागवाणी की विशिष्टता का भान होगा । जो वस्तु ग्राह्य हो उसे ग्रहण करो और अग्राह्य को त्याग दो । ऐसे कार्य मत करो जिससे धर्म की अवनति हो, वरन् धर्मोन्नति में सहायक बनो । जो प्रवचन की इस प्रकार प्रभावना करते हैं वे तीर्थंकर गोत्र का भी बंध कर सकते हैं

और संसारसमुद्र से भी पारहो जाते हैं।

ब्यावर
२६–६–५६